

जाति तोड़ो  
मनुष्य बनो

सुभाष गाताडे

पुस्तिका सीरीज़-81

प्रकाशक :

***isd* इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए,

लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : [notowar.isd@gmail.com](mailto:notowar.isd@gmail.com)

वेबसाइट : [www.isd.net.in](http://www.isd.net.in)

प्रकाशन वर्ष : 2018

केवल सीमित वितरण के लिए

बस कि दुश्वार है हर काम का आसां होना  
आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसां होना

—गालिब



## नौजवानों से दो बातें !

‘देवताओं, मंदिरों और ऋषियों का यह देश! इसलिए क्या यहां सब कुछ अमर है? वर्ण अमर, जाति अमर, अस्पृश्यता अमर! ...युग के बाद युग आए! बड़े-बड़े चक्रवर्ती आये! ...दार्शनिक आए! फिर भी अस्पृश्यता, विषमता अमर है! ...यह सब कैसे हो गया? किसी भी महाकवि, पंडित, दार्शनिक, सत्ताधारी सन्त की आंखों में यह अमानुषिक व्यवस्था चुभी क्यों नहीं? ...बुद्धिजीवियों, संतों और सामर्थ्यवानों का यह अंधापन, यह संवेदन शून्यता दुनियाभर में खोजने पर भी नहीं मिलेगी! इससे एक ही अर्थ निकलता है कि यह व्यवस्था बुद्धिजीवियों, सन्तों और राज करने वालों को मंजूर थी! यानी इस व्यवस्था को बनाने और उसे बनाये रखने में बुद्धिजीवियों और शासकों का हाथ है।

—बाबुराव बागुल  
जानेमाने मराठी लेखक



[ 1. ]

## प्रस्तावना

किसी ऐसी चीज़/परिघटना/संस्था के बारे में बात शुरू करना बहुत मुश्किल जान पड़ता है, जिसके वजूद को लेकर ही लोगों में मत भिन्नता हों। हमारे अपने वक्त में जाति का सवाल इसी अजूबे को दोहराता दिखता है। आमतौर पर संस्कृति, समुदाय, परम्परा, धर्म आदि के साथ वह इस कदर घुला-मिला सा दिखता है कि उस पर बात भी जल्द शुरू नहीं हो पाती। कब एक विषय पर शुरू की बातचीत फिसल कर दूसरे पर पहुंच जाएगी इसका कयास लगाना मुश्किल होता है।

दूसरी मुश्किल इस वजह से भी आती है कि आजादी के बाद के इन सत्तर सालों में मुल्क का जैसा विकास हुआ है, उसमें हाल यह बना है कि एक छोटे तबके के लिए—सीढ़ीनुमा संरचना बनी उसके शीर्ष पर स्थित होने के चलते लाभान्वित होता आया है—उसकी एक किस्म की यह विशेषाधिकार सम्पन्न स्थिति गोया सहजबोध बनी है। लाजिम है उसके लिए यह कोई बहस का, बातचीत का मसला नहीं है। और वह तभी इसके बारे में बोल उठता है जब सरकारी नीतियों के चलते उसके इस वंशानुगत चल रहे विशेषाधिकार पर खतरा मंडराता दिखता है, जब शिक्षा तथा रोजगार के क्षेत्रों में उत्पीड़ित कहे जाने वाले तबकों के लिए विशेष अवसर प्रदान करने का प्रावधान बनने लगता है। और इसके बरअक्स इस दायरे के बाहर स्थित बड़े तबके के लिए चूंकि जिन्दगी के अलग-अलग मुकाम आमतौर पर इसी से परिभाषित होते रहते हैं और उसकी समूची जिन्दगी इसके इर्दगिर्द ही संचालित होती है, लिहाजा उसकी कोशिश बार-बार यही रहती है कि इस संरचना के बारे में, उसकी समाप्ति के बारे में खुल कर बात करे।

## एक ही समाज मगर बंटा हुआ यथार्थ !

अगर कक्षा में एकत्रित छात्रों से इस सिलसिले में बात करना शुरू करें तो गारंटी से कहा जा सकता है कि अध्यापक महोदय खुद दिग्भ्रमित हो जाएं। छात्रों का एक अल्पमत हिस्सा जोर से कह देगा कि 'सर/मैडम, यह इक्कीसवीं सदी का इंडिया है, जहां जाति गुजरे जमाने की चीज़ हो गयी है। यहां सब मैरिट से तय होता है।' अध्यापक महोदय को वह उन तमाम आधुनिक पेशागत पहचानों को बता सकता है, जिनसे आज युवा पहचाने जाते हैं, फिर कोई सॉफ्टवेयर इंजीनियर है, कोई डिजाइनर है, कोई संगीतकार है या वह इस बात के प्रमाण दे सकता है कि उनके परिवार में किस तरह अब जाति की कोई अहमियत नहीं रही, कितने लोगों ने अन्तरजातीय (यहां तक कि अन्तरधर्मीय) विवाह किए हैं और कितनी खुशी-खुशी उनके परिवारजनों ने ऐसे प्रेम सम्बन्धों को मान्यता प्रदान की है। अगर आप इन छात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि की और छानबीन करने की कोशिश करें तो आप पा सकते हैं इनका बहुलांश ऊंची कही जाने वाली जातियों से, भद्र समझी जाने वाली जातियों से सम्बन्ध रखता है। और आप यह भी पाएंगे जाति की सीढ़ी को बिल्कुल किनारे कर देना उनके लिए इस वजह से भी मुमकिन हुआ है क्योंकि उससे मिलने वाले सभी लाभ उन्हें लगभग मिल गए हैं, अपनी पारम्परिक जाति-पूंजी को जिनके माता-पिता-परिवारजन सम्पत्ति, ऊंची शैक्षिक योग्यता और बेहतर पेशों में बढ़ते नियंत्रण के रूप में हासिल कर चुके हैं।

छात्रों का दूसरा हिस्सा जाति के चश्मे से ही दुनिया को देखने और दिखाने पर जोर देगा और कहेगा कि इंडिया भले ही इक्कीसवीं सदी में पहुंचा हो, मगर उसका मस्तिष्क अभी भी मध्ययुगीन परम्पराओं से बाहर नहीं निकला है और आप किस जाति में पैदा हुए हैं, वही इस बात को तय करता है कि आप जिन्दगी में किस मुकाम पर पहुंचते हैं, आप किन अवसरों को पा सकते हैं? यह बात कहने वालों का बहुलांश निम्न कही जाने वाली जातियों से ताल्लुक रखता होगा, जिनके लिए जाति ही एकमात्र संसाधन के रूप में मौजूद रहती है जिसके जरिए वह जिन्दगी में तालीम, रोजगार, व्यवसाय के बेहतर अवसर तलाश सकते हैं क्योंकि उन्हें एक ऐसी दौड़ में शामिल होना है, जिसमें वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही 'डिसएबिलिटीज' के चलते बहुत पिछड़ चुके हैं।

जाति जैसी हमारे यहां की विशिष्ट सामाजिक संरचना की एक छोटे तबके के लिए



‘गैरमौजूदगी’ और एक बड़े तबके के लिए उसकी अत्यधिक सादृश्यता’ अर्थात् हर वक्त, हर जगह उपस्थिति। मुमकिन है आप को मेरी बात पर यकीं न हो !

मिसाल के तौर पर अगर उनसे पूछा जाए कि आश्रमशालाओं में—जहां मुख्यतः अनुसूचित जाति एवं जनजाति के परिवारों के बच्चे पढ़ते हैं—वहां विगत सालों में कितने बच्चों की मौत हुई? और इतनी अधिक तादाद में मौतें और वह भी अजीब-अजीब वजहों से कि अदालत को पूछना पड़ा यह पाठशाला है या मरणशाला !

## [ 2 ]

किसी के लिए यह सवाल बेहद अटपटा हो सकता है !

यह अलग बात है कि देश के अग्रणी अखबार द्वारा इस सिलसिले में सूचना अधिकार के तहत हासिल जानकारी विचलित करने वाली है। ‘इकोनोमिक टाइम्स’ के मुताबिक (18 अप्रैल 2016) 2010 से 2015 के दरमियान ऐसे मरने वालों की संख्या 882 थी जिनमें से सूबा महाराष्ट्र अक्वल था, जहां 684 बच्चे मरे, जिसके बाद ओडिसा का नम्बर आता है, जहां 155 बच्चे मरे और फिर गुजरात (30 मौतें), आंध्र प्रदेश (15 मौतें), राजस्थान (13 मौतें) ऐसे आंकड़ें मिले। अखबार ने संविधान की पांचवी अनुसूची के तहत आदिवासी बहुल दस राज्यों में सरकारी आवासीय विद्यालयों में होने वाली मौतें, मौतों का कारण, यौन अत्याचार की घटनाएं और ऐसे माता-पिता जिन्हें अभी मुआवजा नहीं मिल सका है, आदि मदों पर यह आवेदन डाला था।

पता चला कि ऐसी मौतों के तमाम मामलों में स्कूलों ने यह भी जानने की कोशिश नहीं की कि बच्चे कैसे मरे। अखबार की तरफ से सूचना अधिकार के तहत जिन राज्यों के पास आवेदन भेजा गया था, उनमें से छत्तीसगढ़ एवं हिमाचल प्रदेश ने जवाब देने की जरूरत भी नहीं समझी।

याद रहे कि लगभग चार साल पहले साल महाराष्ट्र के ही चंद्रपूर जिले के जीवती तहसील में चार छात्रों द्वारा 15 अगस्त के दिन की गयी आत्महत्या की कोशिश का मामला सुर्खियों में रहा था जिन्होंने जैसे ही झंडा फहराने की प्रक्रिया शुरू हुई तब

अपने जेब में रखी जहर की बोतलें अपने हलक के नीचे उतार दी थी। मामले की पड़ताल के बाद पता चला कि इन छात्रों ने यह कदम स्कूल की बदईतजामी, अध्यापकों की कमी और खाने की सामग्री की अनुपलब्धता आदि मसलों को रेखांकित करने के लिए उठाया था। डेढ़ साल पहले ओडिसा के नयागढ़ जिले के राणापुर ब्लाक के केन्दुआ नामक स्थान पर आदिवासी लड़कियों के लिए बने छात्रावास में भोजन के बाद 20 लड़कियां बीमार हो गयीं और चौथी कक्षा की छात्रा मीनी मांझी की मौत की खबर आयी थी। (इंडियन एक्सप्रेस, 1 सितम्बर 2014)

इकोनोमिक टाईम्स की रिपोर्ट दरअसल इसी परिघटना की व्यापकता को रेखांकित करती है, जो बताती है कि देश भर में फैले आश्रमशालाओं में ऐसी घटनाओं का होना अब अपवाद नहीं नियम बनता जा रहा है। ध्यान रहे कि नवोदय विद्यालय की तर्ज पर एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय—जिसमें छठवीं से 12वीं तक के बच्चे पढ़ते हैं और केन्द्र सरकार की आदिवासी उपयोजना के तहत संचालित आश्रम शालाओं में ऐसी घटनाओं की बहुतायत देखी गयी है। प्रश्न उठता है वंचित समुदाय के मेधावी बच्चों के शैक्षिक विकास के लिए बने ऐसे स्कूल मौत के कुएं क्यों बन रहे हैं, इसकी निगरानी करने वाला या उस पर नज़र रखने वाला तंत्र भी उपलब्ध नहीं है।

मुंबई उच्च अदालत की न्यायमूर्ति पी वी हरिदास एवं न्यायमूर्ति पी एन देशमुख की द्विसदस्यीय पीठ के सामने जब यह तथ्य पेश हुआ कि विगत दस वर्षों में महाराष्ट्र में बने आश्रमशालाओं में—जिनका निर्माण मुख्यतः दुर्गम इलाकों में रहने वाले आदिवासी समाज की सन्तानों को शिक्षित करने के लिए किया गया है—793 बच्चे काल कवलित हुए हैं—और स्थिति की गंभीरता के बावजूद सरकार बच्चों के स्वास्थ्य विकास के इस मामले की उपेक्षा कर रही है, तब वे न केवल बेहद विचलित हुए बल्कि उन्हें कहना पड़ा कि इन आश्रमशालाओं में अध्ययनरत बच्चों की जिन्दगियां खतरे में हैं। अदालत को कहना पड़ा कि वह हर ऐसी आश्रमशाला के आसपास कम-से-कम एक मेडिकल अधिकारी की तैनाती सुनिश्चित करे और खाली पड़ी रिक्तियों को भर दे।

इन मौतों का विवरण देते हुए अदालत को सूचित किया गया कि इनमें से 62 बच्चे दुर्घटनाओं में, 55 बच्चे सांप काटने, 434 बच्चे बीमारी के चलते, 56

बच्चे पानी में डूब कर, 129 बच्चे प्राकृतिक वजहों से और 57 बच्चे अन्य कारणों से गुजरे हैं। इस बात को देखते हुए कि अदालत के सामने इन तथ्यों को सरकारी वकील ने पेश किया, अन्दाजा ही लगाया जा सकता है कि वास्तविक संख्या इससे अधिक होगी। आदिवासी एवं अन्य वंचित समुदायों के साथ किए जा रहे छल का अन्दाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि ऐसी मौतों को लेकर सरकार द्वारा तय की गयी नीति के हिसाब से कालकवलित बच्चे के माता-पिता को एक्स ग्राशिया भुगतान किया जाना चाहिए, मगर इन दुखद मौतों में से लगभग आधे मामलों में ऐसा कोई भुगतान आज तक नहीं किया गया है।

कुछ साल पहले मुल्क की आला अदालत द्वारा केन्द्र और तमाम राज्य सरकारों को जारी एक नोटिस ने एक तरह से ऐसी बदइन्तजामी का संज्ञान लेते हुए निर्देश जारी किए थे। एक विद्यार्थी संगठन द्वारा देश के 240 जिलों में फैले अनुसूचित जाति और जनजातियों के छात्रों हेतु बने 1,130 छात्रावासों में मौजूद “नारकीय परिस्थिति” के बारे में दायर याचिका के सम्बन्ध में तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश के जी बालाकृष्णन और न्यायमूर्ति सथासिवम एवं न्यायाधीश आफताब आलम की पीठ ने उपरोक्त नोटिस जारी किया था। मालूम हो कि सर्वेक्षण रिपोर्ट में इस दारूण तथ्य को भी उजागर किया गया था कि इनमें से कई छात्रावास जंगलों में भी बने हैं जहां बिजली की गैर-मौजूदगी में छात्रों को मोमबत्ती की रौशनी में पढ़ना पड़ता है, पीने का साफ पानी भी उपलब्ध नहीं है।

इस सम्बन्ध में ‘राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद’ (एनसीईआरटी) के तत्वावधान में प्रकाशित हुई ‘नेशनल फोकस ग्रुप ऑन प्राब्लम्स ऑफ शेड्यूल्ड कास्ट एण्ड शेड्यूल्ड ट्राईब चिल्ड्रेन’ शीर्षक रिपोर्ट अध्यापकों एवं अनुसूचित तबके के छात्रों के अन्तर्सम्बन्ध पर ठीक रौशनी डालती है। रिपोर्ट के मुताबिक :

अध्यापकों के बारे में यह बात देखने में आती है कि अनुसूचित जाति और जनजाति के छात्रों एवं छात्राओं के बारे में उनकी न्यूनतम अपेक्षायें होती हैं और झुग्गी बस्तियों में रहने वाले गरीब बच्चों के प्रति तो बेहद अपमानजनक और उत्पीड़नकारी व्यवहार रहता है। अध्यापकों के मन में भी ‘वंचित’ और ‘कमजोर’ सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से आने वाले अनुसूचित जाति/जनजाति के

बच्चों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, भाषाओं और अन्तर्निहित बौद्धिक अक्षमताओं के बारे में मुखर या मौन धारणाएँ होती हैं। वे लेबिलबाजी, वर्गीकरण और सिखाने की भेदभावजनक शैक्षिक पद्धतियों का अनुसरण करते हैं और निम्न जाति के छात्रों की सीमित बोधात्मक क्षमताओं के “वास्तविक” आकलन के आधार पर कार्य करते हैं।

यह अकारण नहीं कि जनगणना के आंकड़ें हमें यही बताते हैं कि इन तबकों की ड्रापआउट दर अर्थात् स्कूल छोड़ने की दर में कमी के कोई आसार नहीं दिख रहे हैं। और संविधान द्वारा किए गए तमाम वादों के बावजूद 21 वीं सदी में भी शिक्षा हासिल करना अनुसूचित तबके के अधिकतर छात्रों के लिए बाधा दौड़ जैसा ही बना हुआ है।

सवाल उठता है कि और कितनी मौतों के बाद हम जागेंगे और समाज के कर्णधारों को कुछ रैडिकल करने के लिए प्रेरित करेंगे।

एक रास्ता यह दिखता है कि नागरिक समाज से दूर जंगलों या दुर्गम इलाकों में बने ऐसे तमाम स्कूलों को बन्द किया जाए और वहाँ अध्ययनरत छात्रों का दाखिला शहरी इलाकों में कर दिया जाए और सरकार वहाँ बने छात्रावासों में इन छात्रों के रहने का इन्तजाम करें।

विडम्बना ही कही जाएगी कि स्कूलों में भेदभाव की समस्या से कहीं के शिक्षा संस्थान मुक्त नहीं है।

### [ 3. ]

अगर आश्रमशालाओं में बच्चे कालकवलित होते हैं और कोई सुनवाई नहीं होती तो उधर शहरी-कस्बाई इलाकों में बने स्कूलों में वंचित तबकों के शिक्षा के अवसरों पर डाका डालने के लिए फर्जी जाति प्रमाणपत्रों से लेकर फर्जी प्रत्याशियों तक के नुस्खे अपनाये जाते हैं।

नकली आदिवासी एवं फर्जी दलितों की परिघटना यहीं से जनम लेती दिखती है।

मुंबई में राज्य के मंत्रालय से रिटायर्ड कर्मचारी सदानंद गावित का नाम पिछले दिनों अचानक सुर्खियों में आया, जिन्होंने समय पर दी चेतावनी के चलते महाराष्ट्र के विभिन्न मेडिकल कालेजों में आदिवासी कोटे के तहत एडमिशन के 17 मामलों का पर्दाफाश हुआ जिसे देश का सबसे बड़ा 'मेडिकल एडमिशन स्कैम' कहा जा रहा है। अनुसूचित जनजाति के तहत प्रवेश लिए इन छात्रों के नामों को देख कर— मिसाल के तौर पर गांधी, खान, पुरोहित, मंसूरी—जो वेरिफिकेशन के लिए आए थे, उनका कुतूहल जागा और फिर जांच शुरू हुई।

निश्चित ही जनाब गावित को इस बात का गुमान नहीं रहा होगा कि उनकी इस पहल से फर्जी जाति प्रमाणपत्रों के जरिए एडमिशन दिलाने के एक बड़े सिलसिले का खुलासा होगा और मुंबई के सरकारी कालेजों एवं कोल्हापुर के एक कालेज से इसी तरह एडमिशन हासिल किए सामान्य कोटे के 17 छात्रों का न केवल दाखिला रद्द होगा बल्कि उनके खिलाफ मामला भी दर्ज होगा। गौरतलब था कि इसके तहत मुंबई के मशहूर जे जे अस्पताल के रिटायर्ड डॉक्टर की दो सन्तानों के नाम भी शामिल थे। कानून अगर सही काम करेगा तो इन छात्रों को जेल भी भेजा जा सकता है, जिन्होंने धोखाधड़ी का सहारा लिया।

रेखांकित करने वाली बात है कि अभी ज्यादा दिन नहीं हुआ जब मध्य प्रदेश में इसी किस्म के एक अन्य घोटाले का पर्दाफाश हुआ था (भास्कर, जुलाई 31, 2016) जिसमें आदिवासी विकास विभाग को बड़ी तादाद में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के जाली सर्टिफिकेट के उपयोग की शिकायत मिली थी जिसके चलते विभाग ने जाति प्रमाण-पत्रों की जांच का जिम्मा छानबीन समिति को सौंपा था। समिति ने वर्ष 1998 से लेकर 2015 तक 378 प्रकरणों की जांच की थी। गौरतलब था कि उसे अधिकांश मामलों में जाति प्रमाण-पत्र फर्जी मिले। इस पर उसने कार्रवाई करते हुए उन प्रमाण-पत्रों को निरस्त कर दिया बल्कि आगे कार्रवाई की भी सिफारिश की। मालूम हो कि इन दस्तावेजों की सहायता से कई लोग सरकारी नौकरी भी हासिल कर चुके हैं और कई प्रमोशन भी ले चुके हैं।

ध्यान रहे कि फर्जी जाति प्रमाणपत्रों से न केवल अग्रणी शिक्षा संस्थानों में प्रवेश एवं नौकरी हासिल की जाती है बल्कि कई ऐसे मामले भी सामने आए हैं कि

प्रत्याशियों ने चुनावों में आरक्षित सीट से लड़ने के लिए फर्जी जाति प्रमाणपत्र जमा किए और जीत भी गए। अभी ज्यादा दिन नहीं हुए जब मध्यप्रदेश के थांदला नगर परिषद की अध्यक्ष चम्पा उर्फ सुनीता को मार्च के मध्य में न केवल अपने पद से हटाया गया बल्कि वसावा नामक जाति के उसके द्वारा जमा प्रमाणपत्र को लेकर—जो जाति मध्यप्रदेश में अनुसूचित जनजाति में शुमार नहीं है—उसके खिलाफ धोखाधड़ी का मुकदमा भी कायम हो गया। इसके लिए उसे तीन से सात साल तक की जेल हो सकती है।

गौरतलब है कि अनुसूचित तबकों के कल्याण के लिए बनी संसद की स्थायी समिति की रिपोर्ट हो या सर्वोच्च न्यायालय का इन मामलों में हस्तक्षेप हो या कहीं लोगों के दबाव के चलते दिखाई देती सरकारों की सक्रियता हो, आए दिन ऐसे मसले चर्चा में आते रहते हैं। वर्ष 2017 के मई माह में मध्यप्रदेश की अनुसूचित जनजाति सीट से चुनी गयी भाजपा की राष्ट्रीय सेक्रेटरी एवं वर्तमान सांसद ज्योति धुर्वे का जाति प्रमाणपत्र इन्हीं आधारों पर खारिज किया गया। उच्च न्यायालय के आदेश पर गठित उच्च स्तरीय जांच कमेटी ने पाया कि सुश्री धुर्वे ने जो जाति प्रमाणपत्र जमा किया है—जो बताता है कि वह गोंड जनजाति से संबंधित हैं—वह उसके पिता के वंश के अनुकूल नहीं है अर्थात् फर्जी है। ध्यान रहे कि वर्ष 2009 में पहली दफा बेतुल सीट से चुनी गयी ज्योति धुर्वे के खिलाफ हारे हुए प्रत्याशी ने केस दर्ज किया था, मगर पांच साल तक कोई सुनवाई नहीं हुई। वर्ष 2014 में उनसे हारे अन्य प्रत्याशी शंकर पेण्डराम ने इसी बुनियाद पर अदालत का सहारा लिया था और प्रमाण पेश किए थे, जिसके चलते अदालत को उपरोक्त कमेटी का गठन करना पड़ा था।

आज से ठीक दस साल पहले की बात है हरियाणा में पुलिस अधीक्षक के तौर पर तैनात एक अफसर (संजय भाटिया) का मामला भी खूब तूल पकड़ा था। उपरोक्त शख्स को भारतीय दण्ड विधान की धारा 420 के तहत सजा भी सुना दी गयी थी। उस पर यह आरोप प्रमाणित हो चुका था कि भारतीय पुलिस सेवा में भरती होने के लिए राजपूत परिवार में पैदा उस शख्स ने दिल्ली के उपआयुक्त के दफ्तर से 'आदिधर्मी' होने का प्रमाणपत्र हासिल कर अपने आप को अनुसूचित जाति के तौर पर पेश किया था। प्रस्तुत मामले में भी 17 साल से अधिक वक्त चले मुकदमे के बाद ही फैसला सामने आया था।

जहाँ तक अनुसूचित जाति जनजाति कमीशन की रिपोर्टों का सवाल है, (ध्यान रहे पहले दोनों अनुसूचित तबकों के लिए एक ही आयोग था, जो अब अलग-अलग हो गया है) वह जाति सम्बन्धी “झूठे प्रमाणपत्रों की” समस्या पर बार-बार रौशनी डालती रही हैं। इसकी दो रिपोर्टों में तो इस पर एक अलग अध्याय भी जोड़ा गया था। इसमें उल्लेख किया गया था कि झूठे प्रमाणपत्रों की समस्या के व्यापक प्रसार से चिंतित होकर कमीशन ने वर्ष 1996 में कई राज्यों में विशेष तथ्यसंग्रह किया था। तमिलनाडु में 12 केन्द्रीय संगठनों की ऐसी जांच में यह पाया गया कि वहाँ पर अनुसूचित जनजाति का झूठा प्रमाणपत्र जमा करके 338 लोगों ने नौकरियाँ पायी हैं। कमीशन की सख्त कार्रवाई के बावजूद इनमें से सिर्फ छह लोगों को “काफी विलम्ब” के बाद नौकरी से बरखास्त किया गया। बाकी तमाम लोगों ने अपनी बरखास्तगी को रोकने के लिए स्थानीय अदालतों की शरण ली तथा अपने लिए स्थगनादेश हासिल किया।

इसी सन्दर्भ में ओड़िसा के सवर्ण ‘डोरा’ जाति से सम्बद्ध लोगों के रातोंरात ‘कोण्डाडोरा’ नामक अनुसूचित जनजाति में रूपान्तरण एवं इसी आधार पर सूबे की नौकरशाही तक उनकी बढ़ती पहुँच किसी को मशहूर यूरोपीय उपन्यासकार काफ़्का के ‘मेटामॉर्फोसिस’ की याद दिला सकती है। कोई यह जानने के लिए बेचैन हो सकता है कि ऐसे कैसे मुमकिन हो सकता है? निश्चित ही इसे मुमकिन बनाना हो तो एक अदद जाति प्रमाणपत्र की आवश्यकता है होती है। अनुसूचित जाति-जनजाति के कल्याण के लिए संसद की स्थायी समिति की 29 वीं रिपोर्ट ने इसी हकीकत को रेखांकित किया था। रतिलाल कालिदास वर्मा की अगुआई में कायम प्रस्तुत कमेटी ने इन प्रमाणपत्रों को जारी करने में बरती जा रही गम्भीर खामियों पर चिन्ता जाहिर की थी। कमेटी का यह भी कहना था कि ऐसे फर्जी दलितों या नकली आदिवासियों ने आई ए एस जैसे शीर्ष पदों पर भी कब्जा जमाया है। उसके मुताबिक ‘इस वजह से अनुसूचित जाति और जनजाति के वास्तविक हकदारों को रोजगार, शिक्षण संस्थानों और सरकारी योजनाओं में वाजिब हक नहीं मिल रहा है। यह सीधे-सीधे अपराध है।’

प्रश्न उठता है कि इस मसले पर न्यायपालिका, कार्यपालिका के सचेत होने के बावजूद यह सिलसिला अभी तक बेधड़क क्यों चल रहा है ?

जहां संविधान प्रदत्त अधिकारों के तहत पैदा किए गए अवसरों पर नकली आदिवासी और फर्जी दलित आदिवासियों को बिठाने के लिए फर्जी जाति प्रमाणपत्रों की परिघटना सर्वव्यापी हो गयी दिखती है, जिसमें व्यक्तिगत पहल अधिक नज़र आती है, वहीं हाल के समय में ऐसे तमाम मामले सामने आए हैं, जिसमें संस्थागत तौर पर इसे अंजाम दिया जाता दिखता है। इसके तहत शिक्षा संस्थान अनुसूचित तबकों के छात्रों की सहायता के लिए सरकार की योजनाओं का लाभ उठाने के लिए ऐसे छात्रों की फर्जी सूची जमा करते हैं और सरकार की तरफ से मिलने वाली राशि सीधी हड़प लेते दिखते हैं, जिसके लिए उन्होंने फर्जी खाते भी खोले हैं। सहारनपुर पुलिस ने समाज कल्याण विभाग द्वारा दायर शिकायत का संज्ञान लेते हुए 32 प्राइवेट कालेजों के खिलाफ प्रथम सूचना रिपोर्ट दायर की। समाज कल्याण विभाग के मुताबिक इन कालेजों ने अनुसूचित जाति की श्रेणी के विद्यार्थियों के नाम पर दी जा रही 125 करोड़ रुपये की स्कालरशिप हड़प ली। (टाईम्स आफ इंडिया, 25 जून 2016) इस घोटाले की व्यापकता इतनी बड़ी थी कि कुछ कालेजों ने अपने सभी छात्रों को अनुसूचित श्रेणी का घोषित किया था। गौरतलब है कि जांच टीम ने ऐसे 13 कालेजों की पहचान भी की जिन्होंने अपने विद्यार्थियों को नकली मार्कशीट के आधार पर प्रवेश दिया था।

इस काण्ड के खुलासे के कुछ वक्त पहले पता चला था कि केन्द्र सरकार की तरफ से अनुसूचित तबकों के छात्रों के लिए जो स्कालरशिप एवं अन्य सुविधाएं मिलती हैं उसका लगभग आधा हिस्सा धोखाधड़ी एवं फरेब के जरिए शिक्षा संस्थानों के माफिया सरकार में तैनात अधिकारियों की मिलीभगत से हड़प लेते हैं। ('डीएनए', 7 मई 2016) केन्द्र सरकार द्वारा प्रायोजित पोस्ट मैट्रिक स्कालरशिप एव फ्रीशिप योजनाओं में अनियमितताओं को लेकर एक स्पेशल टास्क फोर्स द्वारा चल रही जांच में—जिसे अतिरिक्त डायरेक्टर जनरल ऑफ पुलिस की अगुआई में संचालित किया गया था—जिसका फोकस सूबा महाराष्ट्र था, यही बात उजागर हुई थी। गौरतलब है कि जांच में पता चला कि कई कालेजों ने न केवल फर्जी छात्र प्रस्तुत किए बल्कि कई बार बढ़े हुए दर से बिल भी पेश किए और पैसे बटोरे। इस सन्दर्भ में बुलढाना और नंदुरबार जिले के दो दर्जन से अधिक प्राइवेट कालेजों के खिलाफ कार्रवाई की भी सिफारिश टास्क फोर्स ने की।

इतना ही नहीं अनुसूचित तबकों के छात्रों को दी जा रही छात्रवृत्ति को जारी करने



में विलम्ब के जरिए भी छात्रों के भविष्य को खतरे में डाला जा सकता देखा गया है। कुछ समय पहले राज्यसभा में शून्यकाल में इसी मसले को पंजाब के (बसपा) सांसद ने उठा कर सदन का ध्यान इसकी तरफ खींचने की कोशिश की थी। उनका कहना था कि संविधान के अन्तर्गत अनुसूचित तबकों को दिए गए आरक्षण के बावजूद समय पर छात्रवृत्ति न मिलने से इन तबकों के विद्यार्थियों की पढ़ाई बाधित होती है। यहां तक कि समय पर जाति प्रमाणपत्र जारी न करके भी दलित-आदिवासी अधिकारों पर कुठाराघात करने की कोशिश चलती रहती है। पांच साल पहले महाराष्ट्र के समाज कल्याण महकमे के कर्मचारियों की आपराधिक लापरवाही के चलते नागपुर क्षेत्र में अनुसूचित जाति, जनजाति एवं अन्य पिछड़ी जातियों से आने वाले दस हजार से अधिक छात्र अपने पसन्द के प्रोफेशनल पाठ्यक्रमों में प्रवेश नहीं ले सके थे। (टाईम्स ऑफ इण्डिया, 22 जून 2012, गवर्मेन्ट एपथी मे डिप्राइव एससी एसटी स्टुडेंट्स आफ कालेज एडमिशन) और शासकीय कालेजों में उनके प्रवेश को महज इसी वजह से रोका गया था क्योंकि उनके पास जाति वैधता प्रमाणपत्र नहीं थे, जबकि इस सम्बन्ध में इन तमाम छात्रों ने साल भर पहले ही आवेदन पत्र जमा किए थे। ग्राहकों के हकों के संरक्षण के लिए संघर्षरत एक कार्यकर्ता के मुताबिक इसके पीछे निजी इंजीनियरिंग-मेडिकल कॉलेजों की समाज कल्याण विभाग के साथ मिलीभगत भी दिखाई दी थी। जाहिर था कि आरक्षित तबके के इन छात्रों को जाति वैधता प्रमाणपत्र समय पर नहीं मिलने से कइयों को खुली श्रेणी में प्रवेश लेना पड़ा और फिर निजी कॉलेजों ने उनसे भारी फीस वसूली थी।

छात्रवृत्ति का गबन हो, उसे जारी करने में किया जाने वाली देरी हो या जाति प्रमाणपत्रों के जारी करने में किए जाने वाला विलम्ब हो, इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि संविधान में प्रदत्त तमाम अधिकारों के बावजूद या सदियों से सामाजिक तौर पर उत्पीड़ित रहे तबकों के लिए अपनायी जाने वाली सकारात्मक विभेद (Positive Discrimination) की योजनाओं के बावजूद वंचित तबकों से आने वाले छात्रों के साथ आज भी विभिन्न स्तरों पर छल जारी है।

[ 4 ]

नमूना कालम Wanted : a professionally qualified boy for an extremely beautiful, fair Punjabi Khatri girl, 24/160,

B.Com, C.A. (Group 1 passed) employed girl from a respectable family.

इक्कीसवीं सदी की दूसरी दहाई में भी जाति की विचारधारा के वर्चस्व का यह आलम है कि लोग अपने जीवन के सबसे अंतरंग फैसले—जीवनसाथी का चुनाव— में भी आम तौर पर जाति की शरण में जाते दिखते हैं।

अगर आप को मेरी बात पर अभी भी यकीन न हो तो किसी रविवार के दिन आप हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती या अन्य किसी भाषाई अखबार को पलट कर देखें और उसमें मेट्रिमोनियल कॉलम ढूँढें अर्थात् जीवन साथी तलाशने के लिए दिए गए विज्ञापन देख सकते हैं जो हमारे समाज का एक आईना मालूम पड़ते हैं, जिसमें न केवल अपनी जाति एवं अनुकूल गोत्र की बात की जाती है बल्कि लड़की कैसी है या कैसी चाहिए इसमें भी समाज में व्याप्त पितृसत्तात्मक पूर्वाग्रह ही झलकते मिलेंगे। ‘जाति कोई बन्धन नहीं’ शीर्षक से या अंग्रेजी अखबारों में कास्मोपालिटन के नाम से प्रकाशित क्लासीफाइड विज्ञापन तो इक्का-दुक्का दिखाई देंगे।

मैटरिमोनियल अर्थात् शादीसम्बन्धी विज्ञापनों का विश्लेषण इस मसले पर रौशनी डाल सकता है। ‘ब्रांडिंग ब्राइड्स एण्ड ग्रूम्स इन इंडिया’ शीर्षक से 1967 से 1997 के दरमियान जारी विज्ञापनों के अध्ययन का निष्कर्ष साफ है : (<http://www.brandingasia.com/columns/mccannerickson5.htm>)

‘भारत के सामाजिक तानेबाने ने विगत एक दशक से अधिक समय से चल रहे उदारीकरण की कथित हवाओं के बीच अपनी अधिकतर विशिष्टताओं को अक्षुण्ण रखा है। शादी के लिए रिश्ता ढूँढने के मामलों में आज भी जाति और परिवार सर्वोपरि स्थान रखता है और सामाजिक ओहदों में बदलावों का उस पर न्यूनतम असर दिखता है।’

मैटरिमोनियल विज्ञापनों को एक दक्षिण एशियाई परिघटना कह सकते हैं जहां शादी के रिश्ते जोड़ने का काम सुगम करते हैं। उन्हें एक तरह से परिवारों के बीच सम्वाद के तौर पर देखा जा सकता है, जो अखबार या अन्य साधनों के जरिए

सम्पन्न होता है। अब जहां तक उपरोक्त अध्ययन का सवाल है उसे एक मीडिया एथनोलोजी प्रोजेक्ट के तौर पर 'मैककेन एरिकसन' (McCann Erickson India) ने हाथ में लिया तथा इसी बहाने भारत के शहरी समाज में आ रहे बदलावों को जानना चाहा। वर्ष 1967 से 1997 के दरमियान देश के दो अग्रणी अख़बारों 'द हिन्दुस्तान टाइम्स' और 'टाइम्स आफ इंडिया' के दिल्ली संस्करण में प्रकाशित ऐसे विज्ञापनों में 3200 विज्ञापन चुने गए थे।

कोई कहेगा कि शादी जैसे बेहद निजी मसले पर लोगों के अपने चॉइस पर, अपनी पसन्दगी-नापसन्दगी पर आप क्यों एतराज कर रहे हैं? चलिए, ऐसे उदाहरणों को देखते हैं जब कहा जाता है कि इन्सानों के अच्छे गुण सामने आने से नहीं रहते।

कहा जाता है कि प्राकृतिक आपदा—जिसकी धरती के इस हिस्से में बहुतायत रहती है और जिसमें बहुत कुछ मानवनिर्मित रहता है—इन्सानों के अच्छे गुणों को सामने लाने का भी काम करती है, लोग एक दूसरे की मदद करते हैं, दुख बांटते हैं, सांत्वना देते हैं। हमारे यहां यह चीजें दुनिया से उलट दिशा में प्रवाहित होती दिखती है।

मिसाल के तौर पर, कुछ समय पहले कर्नाटक एवं आंध्रप्रदेश के तमाम जिले अभूतपूर्व बाढ़ का शिकार हुए। लाखों विस्थापितों के समक्ष पुनर्वास का संकट बना। भुक्तभोगियों ने बताया कि किस तरह राहत एवम पुनर्वास कार्यों में अधिकारीगणों की तरफ से ही भेदभाव बरता गया। उदाहरण के तौर पर तालामरी गांव में जब बाढ़पीड़ितों के लिए सरकार की तरफ से अस्थायी राहत शिविरों का निर्माण किया गया तो ऊंची जाति के लोगों ने मादिगाओं के साथ रहने से साफ इन्कार कर दिया। या कोसी के कहर ने जब बिहार के अच्छे खासे हिस्से को प्रभावित किया था तब यही पता चला कि किस तरह वर्ण मानसिकता से ग्रस्त सरकारी अफसर एवं दबंग जाति के स्थानीय निवासियों के अपवित्र गठबन्धन ने आपदा के इन दिनों में भी दलित जातियों पर अपना कहर जारी रखा था। राजस्थान के बाड़मेर और जैसलमेर में बाढ़ की विभीषिका के दौरान ऐसी तमाम घटनाएं हमारे सामने नमूदार हुई थीं, जब इलाके की दबंग जातियों ने राहत शिविरों से दलितों को खदेड़ा था, उन्हें भोजन और पीने का पानी देने से इन्कार किया था, यहां तक कि राहत शिविरों में बने टायलेटों के इस्तेमाल से भी उन्हें रोका था। सुनामी के कुदरती कहर में मची भारी तबाही के बाद तमिलनाडु के

नागपट्टनम तथा अन्य जिलों के राहत शिविरों से दलितों को खदेड़े जाने की खबरों की सुर्खियां बनी थीं।

देश के अलग-अलग हिस्सों की इन खबरों से एक बात साफ थी कि बसवराज जैसों की अगुआई में छोड़े गए सामाजिक विद्रोह का इलाका कर्नाटक हो, अपने सूबे में जारी विभिन्न सामाजिक हलचलों का गवाह बना बिहार हो, सामन्ती पिछड़ेपन का आभास देता राजस्थान हो, विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों की रणभूमि बना तमिलनाडु हो, प्राकृतिक आपदा भले ही वह कितनी भी विकराल हो, जो हजारों घरों को जड़ों से हिला कर रख दे, लाखों लोगों को बेघरबार कर दे, वह मन में बसी विभेद की दीवारों को खरोंच तक नहीं पहुंचा सकती है ?

इक्कीसवीं सदी की दूसरी दहाई में भी जब ऐसे उदाहरणों से हम रूबरू होते हैं, तब एहसास होता है कि अभी कितना कुछ किया जाना बाकी है। एक तो स्पष्ट है कि इस दौरान हम कई भ्रमों से मुक्त हुए हैं। जैसे, पहले यह कहा जाता था कि जितना आर्थिक विकास होगा, उसी रफ्तार में जाति प्रथा की जड़ों पर आघात होगा, अब हम समझ रहे हैं कि जाति प्रथा ने टिके रहने के नए ठिकाने भी ढूंढ लिए हैं। या कुछ मॉडर्न कही जा सकने वाली प्रणालियों के लागू होने के बाद—फिर वह चाहे चुनावी राजनीति हो, एफमेंटिव एक्शन अर्थात् पिछड़ें एवं वंचित तबकों के लिए विशेष अवसर प्रदान करने की नीति हो—उसने जाति के नए सिरे से सुदृढीकरण का नया आधार प्रदान किया है।

दूसरी बात जो दोहरायी जाती रहती है कि जाति प्रथा का कहर आज भी 'पिछड़े' इलाकों में अर्थात् ग्रामीण इलाकों में ही विद्यमान है, शहर में जाति टूट रही है। इसे परखना हो तो हम किसी भी नगर/शहर में एक अभ्यास कर सकते हैं। किराये पर मकान ढूंढना एक अच्छा तरीका हो सकता है। अगर आप अपनी जाति बता कर— जो आप से वैसे भी पूछी जाएगी—मकान ढूंढना चाहें और अगर आप लोगों की हिसाब से किसी 'निम्न जाति' से जुड़े हों, तब आप को बेहद होशियारी के साथ टरका दिया जाएगा।

इस सन्दर्भ में रेखांकित करने वाली बात यह है कि जाति की उपस्थिति महज पिछड़े इलाकों में बसे लोगों या शहरी लोगों में ही नहीं बल्कि वह कापॉरिट

सेक्टर में भी बखूबी फलती-फूलती दिखती है।

[ 5. ]

अमेरिका स्थित प्रिन्स्टन विश्वविद्यालय और इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ दलित स्टडीज द्वारा किए गए संयुक्त अध्ययन में कार्पोरेट मालिकों की मानसिकता में भी मौजूद जाति पूर्वाग्रहों का पता चला था। (www.rediff.com, 4<sup>th</sup> Dec. 2007) अश्वेतों एवं हिस्पानिक्स को किस तरह भेदभाव का सामना करना पड़ता है इसे पता करने के लिए प्रयुक्त पद्धति का ही प्रयोग करते हुए उन्होंने भारत की अग्रणी निजी कम्पनियों को 580 पदों के लिए 5,000 आवेदन पत्र भेजे थे। हालांकि अधिकतर मामलों में भेजे गए आवेदन पत्रों में प्रत्याशियों की योग्यता लगभग एक जैसी थी, कई सारे ऐसे प्रत्याशियों के नाम उसमें शामिल थे जिनके नामों से पता चल रहा था कि वह दलित पृष्ठभूमि से हैं। नोट किया जाना जरूरी है कि अग्रणी कम्पनियों ने सिर्फ उन्हीं प्रत्याशियों को बुलाया जिनके नाम उंची जाति के प्रतीत हो रहे थे। ऐसे सभी प्रत्याशी जिनके नाम दलित पृष्ठभूमि से सम्बंधित लग रहे थे, उन्हें साक्षात्कार के लिए बुलाया तक नहीं गया। यह विडम्बनापूर्ण था कि जबकि कार्पोरेट घरानों ने रोजगार में आरक्षण देने से हमेशा इन्कार किया है और प्रतिभा को वरीयता देने की बात की है। यह अध्ययन जो उनके जाति पूर्वाग्रहों को बेपर्द करता था उस पर अधिक चर्चा नहीं हो सकी।

एक अध्ययन जिसे नार्थन ब्रिटिश कोलम्बिया युनिवर्सिटी के विद्वानों ने किया है (देखें 'कार्पोरेट बोर्ड्स इन इण्डिया : ब्लाकड बाय कास्ट? डी अजित, हान डोनकर, रवि सक्सेना, इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, 11 अगस्त 2012) भारत के कार्पोरेट बोर्ड में मौजूद जाति विविधता पर निगाह डालता है। वह बताता है :

भारत की अग्रणी हजार कम्पनी के कार्पोरेट बोर्ड—जिनका मार्केट कैपिटलायजेशन अर्थात् बाजार पूंजीकरण भारत के प्रमुख स्टॉक एक्सचेंज में दर्ज सभी कम्पनियों के लगभग अस्सी प्रतिशत है—के जाति-विविधता की पड़ताल, जिसका आकलन ब्लाउ सूचकांक के जरिए किया गया है, बताता है कि वहां पर कोई विविधता नहीं है। भारत के कार्पोरेट बोर्ड आज भी “ओल्ड बॉयज् क्लब्स” बने हुए हैं जिनका आधार जाति जुड़ाव है न कि अन्य कोई पैमाना।

इन अनुसन्धानकर्ताओं के मुताबिक

“भारत की अग्रणी एक हजार कम्पनियों के बोर्ड में औसतन 9 सदस्य मिले; जिनमें से 88 फीसदी कम्पनी से जुड़े थे और सिर्फ 12 फीसदी स्वतंत्र निदेशक थे। जाति के आधार पर बोर्ड सदस्यों की संख्या का वितरण बताता है कि इनमें से 93 फीसदी ऊंची जाति के सदस्य थे; 46 फीसदी वैश्य और 44 फीसदी ब्राह्मण। अन्य पिछड़ी जातियों और अनुसूचित जाति/जनजाति से जुड़े सिर्फ 3.8 फीसदी और 3.5 फीसदी सदस्य थे... प्रस्तुत अध्ययन इसी बात को उजागर करता है कि भारत के कांफ़रेंट बोर्ड की छोटी-सी दुनिया में ऊंची जातियों का ही वर्चस्व है और विविधता का अभाव है।

इन छिटपुट उदाहरणों से एक बात जरूर समझ में आ सकती है कि हम अपनी पीठ भले रोज थपथपाया करें कि हमारी संस्कृति कितनी महान है, हम कितने सहिष्णु हैं, मगर हकीकत बिल्कुल उलटी दिखती है। अस्सी देशों को फोकस बना कर किए इस सर्वेक्षण को ही देखें (<http://www.siliconindia.com/news/general/Indians-Offenders-or-Victims-of-Racism--nid-155633-cid-1.html>) जिसमें यह जानना था कि कौन देश कितना ‘नस्लवादी’ है। इसका पैमाना यह तय किया गया था कि लोगों से यह पूछा जाए कि आप अपने पड़ोस में किसे देखना चाहते हैं। ‘वर्ल्ड वैल्यू सर्वे’ के नाम से सम्पन्न इस सर्वेक्षण में भारतीय और जार्डनवासी अव्वल नम्बर पर थे जो नस्ल के हिसाब से सबसे कम सहिष्णु पाए गए (40 फीसदी), जबकि मिस्र, सउदी अरब, ईरान, विएतनाम, इंडोनेशिया, दक्षिण कोरिया में यह प्रतिशत 30 से 39.9 फीसद दिखाई दिया।

कहने का तात्पर्य, भले यह बात इन पंक्तियों के पढ़ने वाले तमाम प्रबुद्ध जनों को बहुत नागवार गुजरे, उच्च नीच अनुक्रम पर टिकी यहां की सामाजिक संरचना, जिसे दैवी स्वीकार्यता एवं सामाजिक वैधता हासिल है, और जिसकी समाप्ति के आसार फिलवक्त नहीं दिख रहे हों, वह दुनिया की सबसे गैर-बराबरीपूर्ण व्यवस्था है, जिसने हमारे मन मस्तिष्क को भी कलुषित किया है।

15 साल हो गए जब हरियाणा के झज्जर के पास पांच दलितों को भीड़ ने पीट-पीट कर मार डाला था। गायों की खाल का व्यापार करने वाले यह पांच लोग अपने मिनी ट्रक से एक मरी हुई गाय को ले जा रहे थे। दुलीना पुलिस स्टेशन के सामने बड़े-बड़े अधिकारियों की मौजूदगी में हुए इस हत्याकाण्ड के बाद पुलिस ने सबसे पहले फुर्ती दिखाते हुए तत्परता से इन पांचों मृतकों के खिलाफ गोहत्या का मुकदमा दर्ज किया था। और एक साम्प्रदायिक संगठन के नेता ने इन मौतों पर प्रतिक्रिया देते हुए कहा कि 'आखिर पुराणों में मनुष्य से ज्यादा गाय पूजनीय है।'

## [ 6. ]

आप की जाति किस तरह आप की सामाजिक स्थिति तय करती है, इसे हम राष्ट्रीय अपराध नियंत्रण ब्यूरो के आंकड़ों से भी देख सकते हैं जिसमें भारत के जेलों पर निगाह डाली गयी है। आंकड़ों के मुताबिक जेलों में बन्द कैदी के निम्न जाति या आदिवासी समुदाय, कम शिक्षित होने की संभावना अधिक दिखती है। जेलों में बन्द तीन में से दो कैदी या तो अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति या पिछड़ी जाति से ताल्लुक रखते हैं और ऐसे लोग जिन्हें अपनी पढ़ाई दसवीं कक्षा के पहले ही छोड़नी पड़ी हो। यह अकारण नहीं कि देश के दलित बार-बार यह शिकायत करते हैं कि किस तरह पुलिस और कानूनी प्रणाली सदियों से चले आ रहे जातिगत भेदभाव के चलते उनके खिलाफ खड़ी दिखती है। जेलों में बन्द कैदियों का 95 फीसदी पुरूष हैं। कुल कैदियों का पांचवा हिस्सा मुसलमानों का है जबकि 70 फीसदी कैदी हिन्दू हैं। (<http://www.hindustantimes.com/india-news/typical-indian-prisoner-is-dalit-or-sc-st-male-poorly-educated-survey/story-fYRXt7liX3vXTpS3pTcHSK.html>)

चंद रोज पहले ग्लोबल हंगर इंडेक्स अर्थात् वैश्विक भूख सूचकांक के आंकड़े जारी हुए, जिन्होंने इस सच्चाई की तरफ नए सिरे से इशारा किया कि दुनिया में भूख की समस्या कितनी विकराल है, किस तरह हर साल पचास लाख बच्चे कुपोषण से काल कवलित होते हैं, किस तरह गरीब मुल्कों के दस में से चार बच्चे उसी के चलते कमजोर शरीरों और दिमागों के साथ बड़े होते जाते हैं।

वैसे 21 वीं सदी में आर्थिक महाशक्ति बनने का इरादा रखने वाले भारत के लिए

इसने एक आईना दिखाने का काम किया। मालूम चला कि विश्व भूख सूचकांक अर्थात् ग्लोबल हंगर इंडेक्स में—जिसमें 118 देशों की रैंकिंग की गयी—भारत 97 वें नम्बर पर स्थित है। भारत के बाकी पड़ोसी देश जैसे श्रीलंका, बांग्लादेश, नेपाल और चीन सभी की स्थितियां भारत से अधिक अच्छी हैं। भारत पर अधिक मुग्ध रहने वालों के लिए थोड़ा सुकून इस बात से मिल सकता है कि भारत से अधिक खराब रैंकिंग पर पाकिस्तान, अफगानिस्तान, सबसहारन अफ्रीका के मुल्क तथा उत्तरी कोरिया स्थित है। (<http://www.catchnews.com/international-news/world-food-day-india-97th-most-hungry-nation-a-lot-needs-to-be-done-1476566055.html>) फिलवक्त भारत की इस स्थिति में कोई रैंडिकल बदलाव मुमकिन भी नहीं दिखता क्योंकि मौसम की अनाकलनीय स्थितियों के चलते भारत का कृषि विकास और अनाज उत्पादन ढलान पर है, भले भारत अब कृषि अर्थव्यवस्था न हो, मगर ग्रामीण भारत का अच्छा खासा हिस्सा अभी भी मुख्यतः कृषि पर टिका है और गरीबी रेखा के नीचे रह रहा है।

प्रश्न उठता है कि भूख की विकराल होती समस्या के बावजूद उसे लेकर यहां हंगामा खड़ा होता क्यों नहीं दिखता? दरअसल यह हकीकत है कि चाहे भूख हो या कुपोषण हो दोनों भारतीय राजनीति के लिए गैर-महत्वपूर्ण विषय हैं। इसे हम सत्ता के अलमबरदारों की तकरीरों में ही नहीं बल्कि संसद में चल रही बहसों या उठ रहे प्रश्नों में भी देख सकते हैं। एक अध्ययन के मुताबिक संसद में उठाए गए सवालियों में से महज 3 फीसदी बच्चों से जुड़े थे और जिनमें से 5 फीसदी प्रारंभिक देखभाल और विकास पर केन्द्रित थे जबकि भारत एक ऐसा मुल्क है जहां बच्चों की मृत्यु दर दुनिया में सबसे अधिक है। (<http://scroll.in/article/819052/hunger-is-indias-greatest-problem-even-today-so-why-dont-we-ever-hear-about-it>)

जिस तरह भूखमरी से मौतें महज अब ओड़िसा के कालाहांडी तक सीमित नहीं रह गयी है, और अब आम हो चली हैं (<https://thewire.in/214979/aadhaar-enabled-starvation-narendra-modis-new-india/>) उसी तरह अब यह बात स्थापित हुई है कि आप की जाति आप की जीवनरेखा भी तय करती है।



खबर आयी है कि देश में दलित स्त्रियां गैरदलित स्त्रियों की तुलना में जल्दी मरती हैं। यूनाईटेड नेशन्स वूमेन की तरफ से जारी यह रिपोर्ट 'टर्निंग प्रॉमिसेस इनटू एक्शन : जेण्डर इक्वालिटी इन द 2030 एजेण्डा' के मुताबिक भारत की औसत दलित स्त्री उच्च जातियों की महिलाओं की तुलना में 14.6 साल पहले काल कवलित होती है। कहा जा रहा है कि 'सैनिटेशन की खराब स्थिति और अपर्याप्त स्वास्थ्य सुविधाओं के चलते—जिसकी अधिक मार दलित स्त्रियों पर पड़ती है— उनकी जीवनरेखा कमजोर पड़ती है'। रिपोर्ट के मुताबिक "समाज में अक्सर सबसे पीछे महिलाएं और लड़कियां छूटती हैं जिन्हें जेण्डर तथा अन्य असमानताओं के आधार पर बहुविध किस्म की प्रतिकूल परिस्थिति झेलनी पड़ती है। ...इसकी परिणति उनकी सामूहिक वंचना में होती है जहां हम देख सकते हैं कि उन्हें एक साथ गुणवत्ता वाली शिक्षा, सम्मानजनक काम, स्वास्थ्य और अन्य सुविधाओं तक सुगमता के मामले में नुकसान उठाना पड़ता है। (<http://www.unwomen.org/-/media/headquarters/attachments/sections/library/publications/2018/sdg-report-gender-equality-in-the-2030-agenda-for-sustainable-development-2018-en.pdf?la=en&vs=948>)

विडम्बना ही है कि यह विस्फोटक खबर जिसका ताल्लुक देश की लगभग 17 फीसदी आबादी से रहा है, वह कुछ भी हलचल पैदा नहीं कर सकी। बात आयी गयी हो गयी।

निश्चित ही दलित स्त्रियों की अधिक दायम स्थिति को लेकर इसके पहले भी कई बार बात हुई है।

अनुसूचित जाति और जनजातियों के कल्याण के लिए बनी संसदीय समिति ने भी अपनी चौथी रिपोर्ट में साफ लिखा था कि अनुसूचित तबकों की स्त्रियों को दोहरा बोझ झेलना पड़ता है, वे जाति और जेण्डर के आधार पर शोषित होती हैं और वे यौन शोषण के सामने बेबस हैं।" इंटरनेशनल दलित सॉलिडारिटी नेटवर्क ने (<http://www.dalitstudies.org.in/uploads/publication/1516705104.pdf>) दलित स्त्रियों को झेलनी पड़ती हिंसा को नौ हिस्सों में बांटा था : जिनमें से छह उनकी जाति पहचान के चलते होती हैं तो तीन जेण्डर

पहचान के चलते। जाति के नाम पर उन्हें यौन हिंसा, गाली गलौज, मारपीट, हमलों का शिकार होना पड़ता है तो जेण्डर के चलते उन्हें कन्या भ्रूण हत्या, जल्दी शादी के चलते बाल यौन अत्याचार, घरेलू हिंसा का सामना करना पड़ता है।

अगर गहराई में जाएं तो हम देख सकते हैं कि समाज में लगभग अदृश्य नागरिक की स्थिति में डाल दी गयी दलित स्त्रियों के साथ भेदभाव विभिन्न स्तरों पर चलता है :

- परिवारों की सहायता करने के लिए श्रम बाजार/लेबर मार्केट में जल्द पहुंचने की मजबूरी,
- आम तौर पर लांछन लगे (Stigmatised) एवं दासोचित/हल्के रोजगार का मिलना (मिसाल के तौर पर हाथ से मल उठाने के 'व्यवसाय' में—जिसकी समाप्ति के लिए केन्द्र सरकार दो-दो बार कानून बना चुकी है, लगभग 7-8 लाख लोग आज भी काम करते हैं, जिनमें से 95 फीसदी महिलाएं हैं।) अर्थात् बेहतर नौकरियों से तथा शिक्षा के अच्छे अवसरों से आम तौर पर वंचित
- घरेलू हिंसा के मामलों में शीर्ष पर 24.6 फीसदी दलित महिलाएं विगत 12 महीनों में हिंसा की शिकार, जबकि अनुसूचित जनजातियों के सन्दर्भ में यह आंकड़ा 18.9 फीसदी, पिछड़ी जातियों के सन्दर्भ में 21.1 फीसदी जबकि अन्य की श्रेणी में शामिल जिसमें सवर्ण हिन्दुओं की तादाद वहां 12.8 फीसदी (<https://www.counterview.net/2018/02/dalit-women-are-top-victims-of-domestic.html>)
- नेशनल क्राइम रेकॉर्ड्स ब्यूरो /2016/ के मुताबिक दलितों के खिलाफ जितने अपराध दर्ज होते हैं, उसका बहुलांश दलित स्त्रियों के खिलाफ होता है। (<http://indianexpress.com/article/explained/>)

ncrb-data-2016-most-atrocities-against-dalits-  
involve-crimes-against-women-most-cases-in-  
bengaluru-4962457)

जाहिर है कि इन तमाम सुनियोजित प्रक्रियाओं का समग्र असर यही होता है कि सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य से वह लगभग बाहर कर दी जाती है, जो उन्हें अदृश्य नागरिक के तौर पर समाज की निचली सतह तक सीमित कर देता है।

प्रश्न उठता है कि इस स्थिति को सम्बोधित करने के लिए किया क्या जाए? यह समझना होगा कि भारत में स्त्रियों को “सिंगल” इकाई नहीं समझा जाता। जाति जेण्डर की इंटरसेक्सनैलिटी (अर्थात् उनका आपसी अन्तर्गुंथन) समाज में किसी की स्थिति को निर्धारित करता है। और भारत में (जातियों के बीच) गोत्र विवाहों की जो परम्परा चली आ रही है, उसके आधार पर समाज में व्यक्ति का ओहदा तय होता है।

इस परिस्थिति में दो रास्ते तय करने होंगे :

एक रास्ता सामाजिक आन्दोलन का होगा, जातिगत भेदभाव को समाप्त करने के हमारे संघर्ष के समानान्तर स्त्रियों की दायम स्थिति को दूर करने के लिए भी कदम बढ़ाने होंगे।

दूसरा रास्ता, विभिन्न राष्ट्र राज्यों, या संयुक्त राष्ट्र संघ को खुद को अपनाना होगा। 2030 का संयुक्त राष्ट्र संघ का जो एजेण्डा है— जिसके तहत प्रस्तुत रिपोर्ट को तैयार किया गया है—का कहना है कि ‘लीव नो वन बिहाइंड’ अर्थात् किसी को पीछे न छोड़ो अर्थात् “जो सबसे अधिक हाशिये पर है, ऐसे लोग जो सामाजिक, राजनीतिक, पर्यावरण और आर्थिक तौर पर सबसे अधिक हाशिये पर हैं उनकी जरूरतों को पहले संबोधित करो।”

निश्चित ही यह काम मौजूदा आर्थिक मॉडल को चुनौती दिए बिना मुमकिन नहीं हो सकता है, जिसकी तरफ प्रस्तुत रिपोर्ट में ही विस्तार से लिखा गया है। रिपोर्ट दरअसल यह भी स्पष्ट करती है कि आज की तारीख में आय और सम्पत्ति का

जबरदस्त एकीकरण कुछ हाथों में हो रहा है।

[ 7. ]

आखिर भूख जैसी सेक्युलर समस्या को लेकर या दलित स्त्रियों की जल्दी मौतें जैसे मसलों को लेकर मीडिया या प्रबुद्ध जनों के विराट मौन को कैसे समझा जा सकता है। जाने माने अर्थशास्त्री जां द्रेज और अमर्त्य सेन ने भारत के अखबारों के सम्पादकीयों के अध्ययनों से यही निष्कर्ष निकाला था कि इनमें से महज 1 फीसदी लोगों के स्वास्थ्य से ताल्लुक रखते थे। (<http://scroll.in/article/819052/hunger-is-indias-greatest-problem-even-today-so-why-dont-we-ever-hear-about-it>)

निश्चित ही इसके कई कारण तलाशे जा सकते हैं, मगर इसका सबसे प्रमुख कारण उंची जातियों द्वारा राष्ट्रीय आख्यान पर किया गया कब्जा दिखता है। भारत के सामने विकराल होती स्वास्थ्य समस्या हो, मगर उसकी अनोखी जाति व्यवस्था की उपस्थिति यह सुनिश्चित करती है कि ऊंची जातियों के लोग इससे अछूते रह जाते हैं। 'स्कॉल' पर लिखे अपने आलेख में शोएब दानियाल बताते हैं कि

‘भारत के कमजोर और मरणासन्न बच्चों का विशाल बहुमत आदिवासी, दलितों और शूद्र जातियों से ताल्लुक रखता है। इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली में प्रकाशित 2011 के एक अध्ययन के मुताबिक, हिन्दू ऊंची जातियों के तुलना में कम वजन के दलित बच्चे 53 फीसदी अधिक मिलते हैं तो आदिवासी बच्चे 69 फीसदी अधिक हैं।’

फिर इसमें क्या आश्चर्य कि भारत में भूख की समस्या पर इतनी कम चर्चा होती है।

इक्कीसवीं सदी में भारत के आर्थिक महाशक्ति बनने की बात अक्सर चलती रहती है। पढ़े लिखे भारतीयों का सीना फूल जाता है जब उन्हें बताया जाता है कि कैसे भारत विश्व बाजार में होड़ में टिका हुआ है।

सवाल उठता है कि ऐसा समाज जो इस कदर सम्प्रदाय, जाति आदि के विवादों में उलझा हुआ हो, जहां पर एक दूसरे को नीचा समझने वाली चार हजार से

अधिक जाति-उपजातियां मौजूद हों, जहां प्रेम जैसे बेहद निजी एवं आत्मीय रिश्ते पर समाज एवं परिवार की पहरेदारी परम्पराओं के नाम पर आज भी मौजूद हो, वह कैसे आर्थिक महाशक्ति बनेगा ?

एक ऐसी प्रणाली जो लोगों की सृजनात्मक क्षमता पर बन्दिशें लगाती हैं, उनके मुक्त चिन्तन के रास्ते में बाधाएं खड़ी करती हैं, उन्हें दूसरे मनुष्यों से इसी आधार पर घृणा करना सिखाती है क्योंकि वह किसी गैरजाति में जनमे हैं, जो सही मायने में आपसी बहनापा एवं भाईचारा विकसित होने में रोड़े खड़ा करती है, उसकी समाप्ति के बिना क्या एक सौ बीस करोड़ से अधिक आबादी वाले मुल्क की भौतिक-मानसिक-सृजनात्मक ऊर्जा नयी नयी खोजों, नए नए पराक्रमों की दिशा में लग सकती है ?

आप किसी भी दृष्टिकोण से विचार करें, चाहे भारत के विश्वशक्ति बनने के नज़रिये से या उसके सही मायने में आधुनिक बनने के दृष्टिकोण से या उसके सही अर्थों में मानवीय एवं सहिष्णु होने के नज़रिये से आप यही पाएंगे कि जाति प्रथा की समाप्ति अनिवार्य है।

वैसे किसी चीज़ को तभी बदला जा सकता है जब लोग शिद्दत से महसूस करें कि उसे बदलना है, जहां समाज का मुखर तबका अपने अतीत को लेकर इस कदर मुग्ध हो, अपनी परम्पराओं को अभी भी गले से लगाए हुए हो और उनमें छिपी हिंसा और उनमें प्रगट मनुष्य द्रोह का सौंदर्यीकरण करने में मुब्तिला हो, वहां रास्ता कैसे निकलेगा यह विचारणीय प्रश्न है।

## न जाने वाली जाति इन “विश्वगुरुओं” से बचो !

कर्णसुकर्ण की कहानी से कितने लोग परिचित हैं।

चीनी यात्री ह्यूएन त्सांग /602-664/ ने अपने लेखन में उसका जिक्र किया था। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की “भारत एक खोज” में भी इस किस्से को बयां किया गया है।

किस्सा यह है कि ह्यूएन त्सांग को किसी नगरी में—जो संभवतः आज के भागलपुर के आसपास स्थित थी—कर्णसुकर्ण नामक विद्वान मिला, जिसने विचित्र किस्म की पोशाक पहनी थी। अपने पेट पर मजबूत पट्टा बांधा था और सर पर मशालनुमा कोई चीज रखी थी। उससे वार्तालाप करने के पश्चात जब ह्यूएन त्सांग ने उससे इस विचित्र पहनावे के बारे में पूछा तो उसका जवाब था कि उसके पास इतना ज्ञान है कि उसका पेट फटा जा रहा है और वह मशाल सर पर लिए इसलिए घूमता है कि अंधेरे में पड़े लोगों को रौशनी दिखा सके।

कर्णसुकर्ण की कहानी सुन कर हम सभी हंस सकते हैं, कोई कहेगा कि पागल होगा। मैं यह नहीं समझता हूँ। अगर ह्यूएन त्सांग ने जिक्र करना चाहा तो निश्चित ही किसी वजह से उल्लेख किया होगा। निश्चित ही उच्चकोटि का विद्वान रहा होगा, मगर वही अपने में ही मगन। आत्ममुग्ध।

बुरा न मानें! अगर मैं कहूँ कि हम सभी के अंदर ‘कर्णसुकर्ण’ कहीं छिपा है।

दरअसल आत्ममुग्धता हमारा राष्ट्रीय गुण है।

एक उदाहरण देना चाहूंगा, जिसका जिक्र सुश्री मीरा नंदा ने अपनी किताब 'द गॉड मार्केट : हाउ ग्लोबलायजेशन इज मेकिंग इंडिया मोअर हिन्दू' (रेण्डम हाउस, 2009) में किया है। (पेज 145-146) उनके मुताबिक जाने-माने अमेरिकी थिंक टैंक 'प्यू रिसर्च सेन्टर' ने वर्ष 2007 में ग्लोबल एटीट्यूडस अर्थात् वैश्विक प्रवृत्तियों को जानने के लिए सर्वेक्षण किया जिसमें सैंतालीस मुल्कों के प्रतिभागियों से पूछा गया कि क्या वह इस प्रश्न से सहमत या असहमत हैं : 'हमारे लोगों में कमी हो सकती है, मगर हमारी संस्कृति बाकियों से श्रेष्ठ है।'

इसमें भारतीय अब्बल थे, सर्वेक्षण में शामिल 93 फीसदी ने कहा कि हमारी संस्कृति महान है, उन्हें अपनी संस्कृति में कुछ ऐब नज़र नहीं आता, जबकि अध्ययन में शामिल बाकी देशों के लोग उतना आत्मसंतुष्ट नहीं दिखे, वह अपनी कमियां गिना रहे थे। भारत में उन्होंने 2043 लोगों से बात की जो सभी शहरी थे, जिसका अर्थ अधिक शिक्षित थे, अंग्रेजी के जानकार थे और सम्पन्न भी थे।

वह आगे लिखती हैं कि भले ही सभी लोगों को अपनी संस्कृति के बारे में अधिक प्यार हो, आदर हो, मगर भारत की तुलना अन्य 'प्राचीन सभ्यताओं' से करें तो दिखता है कि 'भारत के 93 फीसदी लोगों के बरअक्स जापान के महज 69 फीसदी और चीन के महज 71 फीसदी अपनी संस्कृति को दुनिया में सर्वश्रेष्ठ बता रहे थे।'

'अमेरिका जो अपने सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के लिए दुनिया भर में भर्त्सना का शिकार होता है, वह एक तरह से ऐसे मुल्क की तस्वीर पेश करता है जो गोया हीन भावना से ग्रस्त हो : महज 55 फीसदी अमेरिकी अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता पर यकीन करते हैं, 24 फीसदी ने इस पर अपना सन्देह प्रगट किया और 16 फीसदी ने इस बात से पूरी तरह इन्कार किया कि उनकी संस्कृति महान है। (भारत के लिए इससे सम्बन्धित आंकड़े थे, 93, 5 और 1 फीसदी)'

अगर हम अपने में ही खुश हैं तो दूसरे के विचारों पर गौर करने की जरूरत ही कहां है , अपने समाज, अपने व्यवहार, अपनी परम्पराओं की तरफ आलोचनात्मक ढंग से देखने की जरूरत कहां है ?

भारत में एक प्रबल धारा है जो अपने आप को सर्वबुद्धिमान, विश्वगुरु समझती है। उपनिवेशवाद के दिनों में उठी पुनरूत्थानवादी धारा ने इसे मजबूती दी है, जिसने अपनी हार के कारणों का विश्लेषण करने के बजाय अपना अतीतगान शुरू किया। गौर करेंगे कि हर हारा हुआ व्यक्ति अतीत का महिमामंडन करने लगता है। मैक्समुलर जैसे विद्वानों ने उस हारे हुए भारतीय मानस को यह भी समझा दिया कि तुम 'आध्यात्मिक देश' रहे हो, इन लौकिक गुलामी पर क्यों परेशान होना ?

और हम उसी में झूमे जा रहे हैं।

दिलचस्प है कि इस मामले में आम जन और शासकजनों में अद्भुत एकता दिखती है। अपनी इस इमेज पर शासक गण इतने यकीन करते दिखते हैं और इतराते रहते हैं कि ऐसी निहायत अनर्गल तकरीर करने में भी उन्हें संकोच नहीं होता जो मिथकशास्त्र एवं विज्ञान का आपस में घोल बना दे। भले ही अब बात थोड़ी पुरानी लगे मगर याद करें कि किस तरह धीरूभाई अम्बानी के अस्पताल के उद्घाटन के अवसर पर खुद प्रधानमंत्री जनाब मोदी ने चिकित्सकीय विज्ञान को मिथकशास्त्र से जोड़ा था तथा गणेश और कर्ण की प्रचलित कहानियों के बहाने प्राचीन भारत में "प्लास्टिक सर्जरी" और "जेनेटिक साइंस" की मौजूदगी को रेखांकित किया था। (<http://indianexpress.com/article/india/india-others/pm-takes-leaf-from-batra-book-mahabharat-genetics-lord-ganesha-surgery/>) प्रधानमंत्री कार्यालय द्वारा वेबसाइट पर डाले गए उनके व्याख्यान के मुताबिक उन्होने कहा था "हम गणेशजी की पूजा करते हैं। कोई प्लास्टिक सर्जन होगा उस जमाने में जिसने मनुष्य के शरीर पर हाथी का सर रख कर के प्लास्टिक सर्जरी का प्रारंभ किया होगा।"

अब यह शायद भारत में ही हो सकता है कि विज्ञान कांग्रेस में—जहां दुनिया भर में अग्रणी वैज्ञानिक जुटते हैं—एक विशेष व्याख्यान एक ऐसे अर्द्धशिक्षित व्यक्ति का कराया जाए जो विद्वतजनों को बताए कि किस तरह हजारों साल पहले यहां के विद्वानों ने विमान उड़ाना सीखा था और यह पेपर पढ़ा जाए कि गोबर लीपने से किस तरह एटम बम के विकिरणों से बचा जा सकता है!



## [ 2. ]

भले ही हम अपने आप को “विश्वगुरु” के खिताब से खुद ही नवाजें और इस बात पर पूरी तौर पर यकीं करें कि “अन्य जीवित प्राणियों” के कल्याण के लिए हमें “मौलिक योगदान” करना है, मगर उन तमाम लोगों ने—मुसाफिरों ने, शासकों ने, सिपाहियों ने या विद्वानों ने, जो कहीं बाहर से यहां पहुंचे थे—आखिर हमारे समाज को किस तरह देखा है, यह जानना थोड़ा अलग हट कर लग सकता है। हवा की ताज़ी बयार लग सकता है और उनकी बातें हमें गोया एक आईना भी प्रदान कर सकती हैं, जिसमें हम अपने आप को देख सकें। (वैसे भारत के एक राष्ट्र के रूप में आधिकारिक तौर पर उभरने के पहले “अन्दरूनी” या “बाहरी” किसे कहा जाए, इसका कोई ठोस आधार नहीं है; अलबत्ता हम गुफतगू की सुविधा के लिए इसका इस्तेमाल कर रहे हैं।)

ईसापूर्व 300 साल चंद्रगुप्त मौर्य के पाटलीपुत्र स्थित दरबार में मेगास्थिनिस नामक राजनयिक सेल्युकर निकेटर के प्रतिनिधि के तौर पर कई साल रुका था। उसने उस वक्त “भारत के समाज” के बारे में लिखा है :

सभी भारतीय आम तौर पर सात तबकों में विभाजित होते हैं। एक होते हैं तार्किक, बाकियों की तुलना में संख्या में बहुत कम, मगर शोहरत और सम्मान में सबसे ऊंची पायदान पर, क्योंकि उनके लिए यह कोई जरूरी नहीं होता कि वह शारीरिक श्रम करे, न साझा भंडार में अपने काम का एक हिस्सा प्रदान करें, दरअसल उन पर किसी भी तरह का प्रतिबंध नहीं होता, बस उन्हें यही करना होता है कि आम जन की तरफ से वह कुर्बानी ईश्वर को पेश करे।

अल बिरूनी (973-1035), महान पर्शियन विद्वान, खगोलशास्त्रज्ञ, गणितज्ञ, मानव वंशशास्त्री, इतिहासकार और भूगोल का ज्ञाता—इस्लामिक दुनिया का शायद अब तक का बहुश्रुत व्यक्ति—वह महमूद गजनवी के कालखण्ड में भारत आया था। यहां के लोगों की गहरी आत्ममुग्धता पर उसकी राय थी :

“ हिन्दू मानते हैं कि उनके जैसा कोई मुल्क नहीं है, उनके जैसा कोई देश नहीं है, उनके जैसा धर्म कहीं नहीं है, उनके जैसा विज्ञान कहीं नहीं है। वह घमण्डी, मूर्खता की हद तक निरर्थक, स्वयं अभिमानी, आवेगहीन होते हैं। उनका घमण्ड यहां तक होता

है कि उन्हें अगर यह बताया जाए कि खोरासान और पर्शियन में कुछ विज्ञान भी चलता है या कोई विद्वान भी हैं, तो वह समझेंगे कि आप अज्ञानी हैं और झूठ भी बोलते हैं।

(<https://selfstudyhistory.com/2015/09/30/al-birunis-india/>)

ध्यान रहे कि उस जमाने में सिंध नदी के इस पार रहने वाले लोग 'हिन्दू' नाम से शेष दुनिया में पहचाने जाते थे।

अल बिरूनी ने सामाजिक संरचना पर लिखा था :

हिन्दू अपनी जातियों को वर्ण अर्थात् रंग से चिन्हित करते हैं, और वंशावली सम्बन्धी नज़रिये से देखें तो वह उन्हें जातक अर्थात् जन्म से सम्बोधित करते हैं। शुरू से ही यह जातियां चार होती हैं।

1. सबसे श्रेष्ठ जाति होती है ब्राह्मण, जिसके बारे में हिन्दुओं की किताबें बताती हैं कि वह ब्रह्मा के सिर से पैदा हुई। और चूंकि ब्रह्मा महज उस शक्ति का दूसरा नाम है जिसे प्रकृति कहते हैं और चूंकि सिर प्राणी के शरीर का सर्वोच्च हिस्सा है, इसलिए ब्राह्मण समूचे वंश का सबसे चुनिन्दा हिस्सा होता है। इसलिए हिन्दू उन्हें मनुष्यता का सर्वोत्कृष्ट कहते हैं।
2. अगली कतार में आते हैं क्षत्रिय, जो ब्रह्मा के कंधे से—जैसा कि कहा जाता है—निर्मित हुए। उनका दर्जा ब्राह्मणों से थोड़ा ही कम होता है उनके बाद आते हैं वैश्य, जो ब्रह्मा के जांघ से पैदा हुए हैं।
4. शूद्र, उसके पांव से निर्मित हुए हैं।

...शूद्र के बाद आते हैं अंत्यज, जो तरह तरह की सेवाएं प्रदान करते हैं, जिन्हें किसी जाति का हिस्सा नहीं समझा जाता, मगर उन्हें किसी पेशा/कारीगरी का सदस्य माना जाता है।

(Al-Biruni's A.D. 973-1048, Description of the Caste System in the 11th Century) ...

'बाहरी' लोगों की इस कतार में हम 18 वीं सदी के ब्रिटेन के राजनेता एडमंड

बुर्के को रख सकते हैं ( 1729 –1797) जिन्होंने कहा था :

उस मुल्क में ( अर्थात् भारत में) धर्म के कानून, जमीन के कानून और सम्मान के कानून, सभी एक दूसरे के साथ घुले मिले हैं और मनुष्य को चिरन्तन रूप में जिसे जाति कहा जाता है, उसको बांधे रहते हैं।

In that country the laws of religion, the laws of the land, and the laws of honour, are all united and consolidated in one, and bind a man eternally to the rules of what is called his caste

(Quoted in 'Castes of Mind, Nicholas Dirks)

हम आसानी से अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि इन मुसाफिरों को भारत के स्तरीकरण (Stratification) की प्रणाली में सबसे अधिक क्या बात आश्चर्यजनक लगी होगी, जब उन्होंने देखा होगा कि यहां ' आदर/श्रद्धा/भक्ति का स्तर आरोही है और अवमानना/अपमान/तिरस्कार का पैमाना अवरोही है।' (*ascending scale of reverence and a descending scale of contempt.*)

[ 3. ]

वैसे अपनी संस्कृति, अपनी महानता आदि के बारे में जो आत्मतुष्टि की भावना दिखती है, उसके चलते मुसाफिरों को जो नज़र आया, जो बात यहां के बारे में चुभ गयी, वह यहां के प्रबुद्ध कहलाने वालों के लिए बिल्कुल सामान्य प्रतीत होती है।

जाहिर है वह जहां जहां जाते हैं, अपनी इन्हीं धारणाओं का प्रदर्शन करने में संकोच नहीं करते।

पिछले दिनों अलग-अलग किस्म की खबरें पढ़ने को मिलीं, कुछ पुरानी थी तो कुछ हाल की थी। एक का ताल्लुक ब्रिटेन से था, दूसरे का सम्बन्ध मलेशिया से था तो तीसरे का ताल्लुक अमेरिका से था। दिलचस्प यह है कि तीनों खबरों का फोकस वहां रह रहे भारतीय और उनमें आज भी पायी जाती जातिगत भावना से था।

ब्रिटेन से आयी खबर में बताया गया था कि किस तरह वहां रोजगार एवं सेवाओं

को प्रदान करने के मामले में दक्षिण एशिया से आने वाले लोग जातिगत भेदभाव का शिकार होते हैं। (<https://www.gov.uk/government/publications/caste-discrimination-and-harassment-in-great-britain>) ब्रिटिश सरकार के 'समता विभाग' की तरफ से किए गए इस सर्वेक्षण में यही पाया गया था कि किस तरह वहां रह रहे लगभग पांच लाख एशियाई लोगों में यह स्थिति नज़र आती है, जिसके लिए विशेष कदम उठाने की जरूरत है। सरकार द्वारा किए गए इस सर्वेक्षण में चन्द केस स्टडीज भी पेश किए गए थे, जिसमें दलित तबके से सम्बद्ध लोगों ने बताया था कि किस तरह उन्हें उनके वरिष्ठ—जो ऊंची कही जाने वाली जाति से ताल्लुक रखते थे—के हाथों प्रताड़ना झेलनी पड़ी। वहां एक एम्प्लायमेण्ट टिब्युनल ने भारतीय मूल की एक पूर्व घरेलू कामगार को—जो दलित ईसाई थी—को एक लाख अस्सी हजार पाउण्ड मुआवजा देने का निर्देश दिया, जिसने इस बात को साबित किया कि जिस परिवार में वह काम करती थी, वहां उसके साथ जाति एवं धर्म दोनों ही आधारों पर भेदभाव होता था। (<http://www.economist.com/blogs/erasmus/2015/11/hinduism-britain-and-caste>) सरकार ने वहां रह रहे दलितों को झेलनी पड़ रहे इस भेदभाव को लेकर कदम उठाने का ऐलान भी किया, और फिर उन्होंने दबाव में आकर इस फैसले को दो साल तक मुलतवी कर दिया। दबाव डालने वाले वे हिन्दू संगठन थे, जो साधनों के मामले में अधिक सम्पन्न थे, और जिनमें वर्चस्वशाली कही जाने वाली जातियों के लोगों का नेतृत्व था और जिन्हें यह बात हजम नहीं हो रही थी कि दलितों ने 'व्यापक हिन्दू एकता' के उनके गढ़ंत (Construct) को चुनौती दी थी।

इण्टरनेशनल दलित सालिडारिटी नेटवर्क' द्वारा सितम्बर 2013 में तैयार किए गए एक पेपर में बेगराज मामले का विशेष उल्लेख किया गया था जिसमें बताया गया था कि विजय बेगराज, जो 'हीर मानक' नाम से कावेन्ट्री सालिसिटर्स फर्म में पहले कार्यरत थे और उनकी पत्नी अमरदीप, जो स्वयं भी उसी फर्म में कार्यरत थी, उन्हें किस तरह अपनी फर्म के अन्दर ही जातिभेद का सामना करना पड़ा क्योंकि विजय दलित पृष्ठभूमि से था और अमरदीप 'ऊंची' जाति से ताल्लुक रखती थी। ([http://idsn.org/fileadmin/user\\_folder/pdf/New\\_files/UK/Caste\\_discrimination\\_in\\_the\\_United\\_Kingdom\\_-\\_IDSN\\_briefing.pdf](http://idsn.org/fileadmin/user_folder/pdf/New_files/UK/Caste_discrimination_in_the_United_Kingdom_-_IDSN_briefing.pdf)) यह दरअसल पहला मामला था जब ब्रिटेन में

जातिभेद की उपस्थिति को अदालत के सामने पेश किया गया।

अगर हम ब्रिटिश सरकार की अपनी वेबसाइट देखें तो सरसरी निगाह से कुछ अन्य केस स्टडीज से रूबरू हो सकते हैं : एक केस स्टडी 60 साल से अधिक उम्र की महिला की है जो रिटायर्ड हैं तथा तीन बच्चों की मां है, जो लगभग 40 साल पहले पंजाब से ब्रिटेन पहुंची हैं। दलित जाति में जनमी उपरोक्त महिला जिसने एक अस्पताल के केटरिंग सेक्शन में बीस साल तक काम किया, जहां उसके सहयोगी भारतीय ही थे तथा अधिकतर जाट सिख थे। उसका कहना था कि जब उन्होंने उसकी जाति ढूंढ निकाली तबसे उसे उनके हाथों भेदभाव का शिकार होना पड़ा।

एक अन्य केस स्टडी 16 साल की किशोरी पर केन्द्रित है जो अपने माता-पिता तथा भाई बहनों के साथ साउथ हॉल में रहती हैं। उसका जन्म भारत में हुआ तथा जो बचपन में ही ब्रिटेन आयी। वह किशोरी अपने आप को हिन्दू पंजाबी के तौर पर सम्बोधित करती है और अपने धर्म के तौर पर रविदासिया बताती है, अपनी जाति वह 'चमार' लिखती है। जब वह 12 साल की थी तबसे उसको स्कूल में प्रताड़ना झेलनी पड़ी, जिसकी वजह उसकी जाति थी। ([https://www.gov.uk/government/uploads/system/uploads/attachment\\_data/file/85523/caste-discrimination.pdf](https://www.gov.uk/government/uploads/system/uploads/attachment_data/file/85523/caste-discrimination.pdf))

कुछ समय पहले उधर मलेशिया में भारतीय मूल के निवासियों की गिरफ्तारी का मसला अचानक सुर्खियां बना था। बताया गया था कि 'हिन्द्राफ' (Hindraf) नामक संगठन के कार्यकर्ता इस बात से नाराज थे कि मलेशिया के स्कूलों में बच्चों के अध्ययन के लिए जो उपन्यास लगाया गया था, वह कथित तौर पर भारत की 'छवि खराब' करता है। आखिर उपरोक्त उपन्यास में ऐसी क्या बात लिखी गयी थी, जिससे वहां स्थित भारतवंशी मूल के लोग अपनी 'मातृभूमि' की बदनामी के बारे में चिन्तित हो उठे थे। अगर हम बारीकी से देखें तो इस उपन्यास में एक ऐसे शख्स की कहानी थी जो तमिलनाडु से मलेशिया में किस्मत आजमाने आया है और वह यह देख कर हैरान होता है कि अपनी मातृभूमि पर उसका जिन जातीय अत्याचारों से साबका पड़ता था, उसका नामोनिशान यहां नहीं है। यह सवाल किसी ने नहीं उठाया कि अपने यहां जिसे परम्परा के नाम पर महिमामण्डित करने में हम संकोच नहीं करते हैं, उच्च-नीच अनुक्रम पर टिकी

इस प्रणाली को मिली दैवी स्वीकृति की बात करते हैं, आज भी आबादी के बड़े हिस्से के साथ (जानकारों के मुताबिक) 164 अलग अलग ढंग से छूआछूत बरतते हैं, वही बात अगर सरहद पार की किताब में उपन्यास में ही लिखी गयी तो वह हमें अपमान क्यों मालूम पड़ती है।

अगर मलेशिया के भारतवंशियों को देखें तो उनका बड़ा हिस्सा तमिलनाडु से सम्बन्धित रहा है। और बदनामी की बात अधिक सटिक लग सकती थी, अगर हिन्दोस्तां की सरजमीं पर नहीं कमसे कम तमिलनाडु में जाति उन्मूलन के कार्यभार को हम लोगों ने पूरा किया होता। आखिर क्या है तमिलनाडु में जातीय अत्याचारों की स्थिति ?

ध्यान रहे कि यह मसला सुर्खियों में आने के कुछ समय पहले 'इण्डियन एक्सप्रेस' में प्रकाशित रिपोर्ट में बताया गया था कि आज भी वहां के 32 जिलों में से 28 जिले दलित एवं आदिवासियों पर अत्याचारों के मामलों में अग्रणी हैं। विगत दो दशकों में वहां इन तबकों पर अत्याचारों के 6,668 मामले दर्ज हुए हैं। (इण्डियन एक्सप्रेस 25, फरवरी 2011) तमिलनाडु वही सूबा है जहां दलित जनसंहार की आजाद हिन्दोस्तां की पहली घटना सामने आयी थी, जब 1969 में किझेवनमनी नामक स्थान पर 42 दलितों को—जिनमें अधिकतर महिलाएं एवम बच्चे शामिल थे— दबंग जातियों ने जला कर मार डाला था।

गौरतलब है कि अपने यहां की विशिष्ट गैरबराबरी का बाहर जिक्र होते देख आगबबूला होते मलेशिया में स्थित भारतवंशी अनोखे नहीं थे। अमेरिका की सिलिकान वैली -सैनफ्रान्सिस्को बे एरिया के दक्षिणी हिस्से में स्थित इस इलाके में दुनिया के सर्वाधिक बड़े टेक्नोलोजी कार्पोरेशन्स के दफ्तर हैं—में तो कई भारतवंशियों ने अपनी मेधा से काफी नाम कमाया है। मगर जब कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में पाठ्यक्रमों की पुनर्रचना होने लगी, तब हिन्दु धर्म के बारे में एक ऐसी आदर्शीकृत छवि किताबों में पेश की गयी, जिसका हकीकत से कोई वास्ता नहीं था। अगर इन किताबों को पढ़कर कोई भारत आता तो उसके लिए न जाति अत्याचार कोई मायने रखता था, न स्त्रियों के साथ दोगम व्यवहार कोई मायने रखता था। जाहिर है हिन्दु धर्म की ऐसी आदर्शीकृत छवि पेश करने में रूढिवादी किस्म की मानसिकता के लोगों का हाथ था, जिन्हें इसके वर्णनमात्र से भारत की

बदनामी होने का डर सता रहा था। साफ था इनमें से अधिकतर ऊंची कही जाने वाली जातियों में जनमे थे। अन्ततः वहां सक्रिय सेक्युलर हिन्दोस्तानियों को, अम्बेडकरवादी समूहों तथा अन्य मानवाधिकार समूहों के साथ मिल कर संघर्ष करना पड़ा और तभी पाठयक्रमों में उचित परिवर्तन मुमकिन हो सका।

इस समूचे मसले को लेकर दलित टान्समीडिया आर्टिस्ट एवं एक्टिविस्ट थानमोजी सौंदरराजन द्वारा लिखा एक आलेख 'इरेजिंग कास्ट : द बैटल ओवर कैलिफोर्निया टैक्सट बुक्स एण्ड कास्ट अपार्टहाइड, ([http://www.huffingtonpost.com/entry/erasing-caste-the-battle\\_b\\_9817862.html?section=indiaCd](http://www.huffingtonpost.com/entry/erasing-caste-the-battle_b_9817862.html?section=indiaCd)) 'द हफिंग्टन पोस्ट में 3 मई 2016 को प्रकाशित हुआ था। अमेरिका में रह रही दलित मूल की लेखिका ने इसमें बताया था कि वहां आप्रवासी भारतीयों के एक हिस्से में सक्रिय धर्मासिविलायजेशन फाउण्डेशन जैसे समूहों की तरफ से यह दलील दी जा रही है कि हिन्दुओं में जाति एवं पुरूष सत्ता का चित्रण किया जाएगा तो वह 'हिन्दु बच्चों को हीन भावना' से ग्रसित कर देगा और उनकी 'प्रताडना' का सबब बनेगा, लिहाजा उस उल्लेख को टाला जाए। और वह बताती हैं कि उपरी तौर पर आकर्षक लगने वाली यह दलील दरअसल सच्चाई पर परदा डालने जैसी है क्योंकि वही तर्क फिर नस्लवाद के सन्दर्भ में भी इस्तेमाल किया जा सकता है और किताबों से उसकी चर्चा को गायब किया जा सकता है। बहरहाल, एक सकारात्मक बात यह है कि इन कोशिशों का विरोध भी हुआ और विभिन्न धर्मों, नस्लों से जुड़े संगठनों एवं व्यक्तियों ने एकत्रित होकर पाठय पुस्तकों को इस तरह संशोधित करने की मुहिम का विरोध किया। उनका कहना रहा है कि दक्षिण एशिया के इस हिस्से में जाति एवं धार्मिक असहिष्णुता या संस्थागत भेदभाव को गायब करना, न केवल इतिहास के साफ सुथराकरण की मुहिम का हिस्सा है बल्कि जनतंत्र का भी निषेध है।

कोई कह सकता है कि यह कोई प्रातिनिधिक घटनाएं नहीं हैं और ऐसे उदाहरणों को भी ढूँढा जा सकता है, जहां भारतीयों की अलग छवि सामने आती हो। खैर, मलेशिया, अमेरिका एवं ब्रिटेन तीनों स्थानों पर जमे हिन्दोस्तानियों का यह व्यवहार निश्चित ही हमें सोचने के लिए मजबूर करता है। विदेशों में बसे भारतीयों में भी अगर जाति की इतनी जकड़ दिखाई देती है, तो हम भारत के अन्दर की

कल्पना ही कर सकते हैं। भले ही जब टीचर बात छोड़े तो हममें से कई लोग इसकी हकीकत को ही नाकबूल कर दें।

पिछले दिनों एक फिल्म आयी थी कलर ऑफ डार्कनेस' गुजरात के गिरीश मकवाना द्वारा निर्देशित यह फिल्म गुजराती और इंग्लिश में थी, जिसने इस मसले के नार्मलायजेशन अर्थात सामान्यीकरण को प्रश्नांकित किया था। (<http://gkmakwanafilms.com/colourofdarkness.html>)

विषय बड़ा दिलचस्प उठाया था। कुछ साल पहले आस्ट्रेलिया में पढ़ रहे भारतीय छात्रों पर हुए हमलों की पृष्ठभूमि थी, जिसको लेकर उन दिनों चारों तरफ हंगामा था। देश की मीडिया ही नहीं संसद में भी यह मसला उछला था। निर्देशक महोदय— जिन्होंने खुद तथा उनके परिवार ने गुजरात में दलित होने की पीड़ा को झेला है—ने इस मसले को भी उठाया था। एक तरह से उन्होंने इस स्थिति पर प्रश्न उठाए थे कि विदेशों में भारतीय छात्रों को अपवादात्मक स्थितियों में झेलनी पड़ती इस प्रताडना को लेकर उद्वेलित लोगों के लिए यहां जाति व्यवस्था की निचली पैडियों पर स्थित दलित तबकों पर आए दिन होने वाले अत्याचार इस कदर सामान्य क्यों लगते हैं ?

जी अलॉयसिएस अपनी पुस्तिका 'द ब्राह्मनिकल इन्स्क्राइब्ड इन बॉडी पॉलिटिक' में आधुनिक प्रत्ययों में आज भी किए जा रहे जाति के गुणगान का जिक्र करते हैं :

...ऐसे लेखकों की कमी नहीं है जो 'जाति' को महिमामंडित करते हैं, यहां तक कि ब्राह्मणवाद की भाषा में ही उसे अंजाम देते हैं, जिनका तर्क यह होता है वर्णव्यवस्था एक तरह से "बहुसंस्कृतिवाद का ही सूक्ष्म रूप" है, 'पर्यावरणीय प्रबंधन का शिखर', 'अनियंत्रित व्यक्तिवाद का स्वस्थ प्रतिकारक' आदि

दूसरे, एक अन्य समूह भी है जो सम्भवतः 'दंभी किस्म के उत्तर आधुनिकतावाद' से प्रेरित है, या 'हिन्दु धर्म के अन्दर से अध्ययन करने का दावा करता है, वह जब भी भेदभाव की स्थितियां चुनौतीपूर्ण स्तर तक पहुंच जाती है, अर्थात् जब ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का सवाल आता है, तब 'भिन्नता' (डिफेरेंस) की बात



पर जोर देने लगता है...

एक तीसरी धारा अधिक व्यापक है... जो रक्त संबंध/नातेदारी संस्था या अंतर्विवाही समूह के तौर पर जाति के वैभव के बारे में : 'सुख सुविधा के तौर पर जाति,' 'नागरिकता हासिल करने के साधन के तौर पर जाति,' '...और अंततः 'पहचान के तौर पर जाति' की बात करती है।

( G Aloysious, P 29, *The Brahminical inscribed in Body Politic*)

जाहिर है भारतीयों के मानस में व्याप्त यह दोहरापन ही है कि जहां वह आस्ट्रेलिया में भारतीय छात्रों पर होने वाली ज्यादतियों से उद्वेलित दिखते हैं, मगर अपने यहां के शिक्षा संस्थानों में आए दिन दलित-आदिवासी या अल्पसंख्यक तबके के छात्रों के साथ होने वाली ज्यादतियों को सहजबोध का हिस्सा मान कर चलते रहते हैं।

भारत में अश्वेत अफ्रीकी छात्रों पर हमलों की बढ़ती घटनाओं को भी हम इसी मानसिकता का विस्तार कह सकते हैं।

#### [ 4. ]

'हे अफ्रीका मेरी आवाज़ सुनो...अफ्रीका की वे महान नदियां, नाईल से टांगानिका तक, गंगा नदी से पहुंच रहे मेरे रक्त को स्वीकार करो'।

यह दर्दभरी कविता दिल्ली के एक हॉल में 'अफ्रीका दिवस' के अवसर पर गूंज रही थी और देश के वरिष्ठ मंत्री ही नहीं बल्कि वहां जुटे तमाम राजदूत एवं अन्य गणमान्य अतिथि खामोश थे। हॉल के सत्राटे को भेदती यह आवाज़ किसी इन्कलाबी शायर की नहीं बल्कि भारत में घाना के हाई कमीशनर सैम्युलल पानिन येले की थी। दिल्ली की सड़कों पर हुई कांगो के नागरिक की बर्बर हत्या के खिलाफ उनकी यह आवाज़ गोया वहां मौजूद अफ्रीकी देशों के राजदूतों की अपनी पीड़ा को जुबां दे रही थी। (देखें, द टेलिग्राफ, 27 मई 2016)

अफ्रीका दिवस के आयोजन पर गायी गयी यह दर्दभरी कविता भले पुरानी लगे,

मगर भारत के अलग-अलग हिस्सों में अफ्रीकी छात्रों को निशाना बनाने की खबरें आती रहती हैं, उससे इस कविता की पीड़ा की अहमियत बार-बार उजागर होती है। कभी दिल्ली के पास स्थित नोएडा के शारदा युनिवर्सिटी परिसर से किसी केनियाई छात्रा को सुरक्षा गार्डों द्वारा पीटने की खबर आती है (<https://scroll.in/latest/873929/noida-sharda-university-suspends-seven-guards-for-allegedly-assaulting-kenyan-student>) तो कभी मुंबई में किसी केनियाई युवती को टैक्सी से खींच कर पीटने की खबर आती है तो कभी दिल्ली के बगल स्थित नोएडा में नाइजीरियाई मूल के लोग स्थानीय लोगों द्वारा हमले का शिकार होते हैं और बहाना बनाया जाता है कि किसी स्थानीय युवक की नशीली दवा के अत्यधिक सेवन से हुई मौत के लिए वही जिम्मेदार हैं। इतना ही नहीं बर्बरता से हुए ऐसे हमलों के वीडियो भी प्रसारित किए जाते हैं, गोया बाकियों को संकेत मिलें कि वह भी उन्हें हिंसा का निशाना बनाए। ( <http://indianexpress.com/article/india/racist-hate-crime-against-black-african-students-must-end-amnesty-international-4591332/>)

रेखांकित करने वाली बात है कि ऐसे हमलों को स्थानीय विवादों या व्यक्तिगत कारणों तक ही न्यूनीकृत करने की कोशिश हर स्तर पर दिखाई देती है। इन हमलों को नस्लीय हमले मानने से इन्कार किया जाता है, जबकि यह स्पष्ट रहता है कि उनकी त्वचा के रंग के चलते अफ्रीकी छात्र हमले का शिकार हुए हैं। दक्षिणी दिल्ली के एक निजी कोचिंग संस्थान में छात्रों को विदेशी भाषा सिखा रहे कांगो निवासी मसोन्दा की मौत का मसला जब सुर्खियों में था—जिसने उपर उल्लेखित अफ्रीका दिवस के आयोजन को भी प्रभावित किया था—उस वक्त भी भारत सरकार की तरफ से अफ्रीकी देशों के राजदूतों के आक्रोश को ठंडा करने की कोशिश करते हुए मसोन्दा की हत्या को स्थानीय गुंडागर्दी तक ही सीमित किया गया था।

यह अलग बात है कि मामले की गंभीरता बढ़ती जा रही है। अभी पिछले ही साल न्यूयॉर्क टाइम्स ने ऐसे हमलों पर स्टोरी की थी, जिसमें बताया था ऐसे हमलों में उछाल आया है। (<https://www.nytimes.com/2017/03/29/world/asia/african-students-india-mob-attacks.html>) मानवाधिकारों की हिफाजत के लिए प्रयत्नशील अंतरराष्ट्रीय संगठन एमनेस्टी

इंटरनेशनल ने भी एक सख्त बयान जारी करते हुए इन 'नस्लवादी हमलों को रोकने की सरकार से मांग की तथा आततायी तत्वों को दंडित करने को कहा। एसोसिएशन ऑफ अफ्रीकी स्टुडेंट्स इन इंडिया की तरफ से जारी बयान भी बताता है कि 'अफ्रीकी छात्रों को निरन्तर झेलनी पड़ती प्रताडनाओं से, हमलों से वह किस हद तक हिले हुए हैं और भारत सरकार द्वारा अपनायी जा रही तुष्टीकरण एवं झूठे वायदों से किस कदर थक गए हैं और अब सख्त कार्रवाई करने के लिए मजबूर हो सकते हैं। अफ्रीकी छात्र बहुल इलाकों में उन्हें सुरक्षा प्रदान करने में भारत सरकार असफल रही तो वह अफ्रीकी यूनियन को लिखने के लिए मजबूर होंगे कि वह भारत सरकार के साथ द्विपक्षीय व्यापार बन्द करे।'

मगर क्या यह कहा जा सकता है कि अफ्रोफोबिया या नस्लवाद की समस्या मनगढ़ंत है और ऐसे हमलों को बेवजह तूल दिया गया है। काश, ऐसा कहा जा सकता!

विडम्बना ही है कि 'नीचे' से लेकर 'ऊपर' तक यह समस्या विभिन्न छटाओं में मौजूद है। याद करें कि कांग्रेस के नेतृत्व वाले संग्रग सरकार के दिनों में अफ्रीकी महाद्वीप के कई देशों के राजदूतों ने बाकायदा तत्कालीन विदेश सचिव जनाब रंजन मथाई से मुलाकात कर यह शिकायत की थी कि भारत में राजदूत होने के उनके विशेषाधिकार का सम्मान करना दूर, एयरपोर्ट पर उनके साथ भी दोहरा व्यवहार किया जाता है और उन्हें आम यात्रियों के साथ लाइन में खड़ा कर अपनी उड़ान पकड़नी पड़ती है। (द इण्डियन एक्सप्रेस, 23 दिसम्बर 2012)

विडम्बना ही है कि भारत का नागरिक समाज खुद 'अन्य' के साथ व्यवहार को लेकर गलत कारणों से अक्सर सुर्खियों में रहता है और उसका यह व्यवहार सिर्फ किसी शहर विशेष तक सीमित नहीं है। रंग को लेकर छींटाकशीं, नस्लीय हमले और तरह-तरह के अन्य भेदभाव उन्हें झेलने पड़ते हैं। पिछले साल बंगलुरु में एक अश्वेत कार चालक ने शिकायत की थी कि किस तरह उसे कार में खींच कर लोगों ने तब पीटा जब वह उस स्थान से गुजर रहा था जहां अश्वेत समुदाय के छात्रों द्वारा गाड़ी चलाते हुए कोई दुर्घटना हुई थी और उसे इसीलिए पीटा गया था क्योंकि वह अश्वेत था। स्थानीय पुलिस ने भी इस मामले में उसकी सहायता नहीं की थी। दिल्ली के मेट्रो स्टेशन पर तीन नाइजीरियाई छात्रों की पिटाई का मामला तीन साल पहले सुर्खियों में रहा। विडम्बना यही कही जाएगी कि वहां खड़ी पुलिस ने इन तीनों को

बचाने का प्रयास नहीं किया और इस बात के प्रमाण होने के बावजूद कि किसने इन छात्रों पर हमला किया, उसने उन्हें पकड़ने में भी आनाकानी की। किसी लड़की को छेड़ने के नाम पर भीड़ ने यह कार्रवाई की। अनधिकृत आंकड़ों के मुताबिक मुंबई में रहने वाले लगभग पांच हजार अफ्रीकियों को इसी किस्म का भेदभाव झेलना पड़ता है। हिन्दुस्तान टाइम्स ने अपने विशेष आलेख में अफ्रम ओगोनी नामक अश्वेत छात्र की आपबीती बयां की थी, जो मुंबई में पढ़ता है।

वैसे इन हमलों या भेदभाव की घटनाओं को कैसे समझा जा सकता है ? औपनिवेशिक शोषण एवं लूट के साझा इतिहास के बावजूद या गरीबी की विकराल समस्या के बावजूद अश्वेत लोगों के प्रति यहां के लोगों का व्यवहार आखिर क्यों अहंकारपूर्ण होता है। शायद यह बात अब इतिहास के पन्नों पर एक सन्दर्भ के तौर पर ही दर्ज रहेगी कि वर्ष 1948 में भारत ने दक्षिण अफ्रीका के रंगभेदी शासन की समाप्ति की मांग की थी।

क्या इसे उपनिवेशवाद की विरासत के तौर पर देखा जाए—जिसमें एक बड़े हिस्से के मन मस्तिष्क पर श्वेत चमड़ी का भार दिखाई देता है ? सुहास चक्रवर्ती अपनी किताब 'द राज सिन्ड्रोम : ए स्टडी इन इम्पीरियल परसेप्शन्स' में इसी की तरफ इशारा करते हैं : "उपनिवेशवाद की विरासत ने दोगेज दर्जे के भारतीयों की एक ऐसी राष्ट्रीय पहचान को मजबूती प्रदान की जो आज भी श्वेत रंग को अश्वेत रंग से ऊंचा मानने के जरिए अभिव्यक्त होती है।" (<https://www.dailymaverick.co.za/article/2017-04-05-analysis-attacks-on-african-students-echo-indias-long-history-of-racism/#.Woy0-YNubIU>)

या इसे सफेद रंग के प्रति लोगों के सम्मोहन का परिणाम कहा जाए जिसके तहत बड़े बड़े फिल्म स्टार्स भी—फेयरनेस क्रीम—के प्रचार में मुब्तिला दिखते हैं। या इसे वर्ण मानसिकता का विस्तार समझा जाए जिसके चलते अवर्णों/अतिशूद्रों को, श्रमजीवी आबादी के बड़े हिस्से को भेदभाव का सामना करना पड़ता है। अगर बारीकी से देखें तो इसे हम सभी कारकों के मिलेजुले असर के तौर पर देख सकते हैं।

वैसे भारतीय समाज में 'हम' और 'वे' का यह सिलसिला इतना जड़मूल है कि अन्याकरण की यह प्रक्रिया 'अश्वेत' बनाम भूरे के बीच ही नहीं बल्कि सवर्ण बनाम

दलित, पिछड़े बनाम अगड़े, बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक आदि विभिन्न स्तरों पर प्रगट होती देखी जा सकती है। देश के अलग अलग हिस्सों में पढ़ रहे दक्षिण पूर्व के छात्र या कार्यरत लोग किस तरह 'चीनी' कहते हुए अपमानित किए जाते हैं, 'मोमो' कह कर अवमानना का शिकार बनाए जाते हैं कि अश्वेतों के खिलाफ जो नस्लीय हिंसा है—वह भले ही इतने भोंडे रूप में प्रगट हो—मगर 'दिखती' नहीं है।

अपनी चर्चित रचना “अछूत कौन और कैसे ?” जिसमें वह अस्पृश्यता के जड़ तक पहुंचने की कोशिश करते हैं, डॉ. अम्बेडकर ने इसी मानसिकता की पड़ताल की थी।

सनातन धर्मान्ध हिंदू के लिए यह बुद्धि से बाहर की बात है कि छुआछूत में कोई दोष है। उसके लिए यह सामान्य स्वाभाविक बात है। वह इसके लिए किसी प्रकार के पश्चात्ताप और स्पष्टीकरण की मांग नहीं करता। आधुनिक हिंदू छुआछूत को कलंक तो समझता है लेकिन सबके सामने चर्चा करने से उसे लज्जा आती है। शायद इससे कि हिंदू सभ्यता विदेशियों के सामने बदनाम हो जाएगी कि इसमें दोषपूर्ण एवं कलंकित प्रणाली या संहिता है जिसकी साक्षी छुआछूत है।

—डॉ. अम्बेडकर, अछूत कौन और कैसे ?

## [ 5. ]

वैसे देखा जाए तो हर सभ्यता किसी-न-किसी किस्म का स्तरीकरण अपने समाज में विकसित करती है जो उत्पादक शक्तियों के स्तर और उससे उपजने वाले उत्पादन सम्बन्धों पर निर्भर रहता है। संश्लिष्ट समाजों में इसके तीन प्रमुख रूपों की बात समाज विज्ञानी करते हैं :

- इस्टेट्स की प्रणाली (यूरोपीय सामन्ती समाजों की विशिष्टता जो पुरोहित तबके, सम्पत्तिशाली तबके और किसानों, व्यापारियों और कारीगरों की विशाल आबादी से चिन्हित होता है)
- जाति व्यवस्था - जो अपरिवर्तनीय सीमा रेखाओं, बेहद विभेदीकृत ओहदों और बेहद सीमित गतिशीलता से चिन्हित होती है
- वर्गीय प्रणाली - आधुनिक समाजों में अधिक व्यापक

(देखें : महाड, मेकिंग ऑफ ए मूवमेण्ट, आनंद तेलतुम्बडे, आकार)

जहां इस्टेटस की प्रणाली और जाति व्यवस्था में

- प्रदत्त ओहदे या जिस सामाजिक स्थिति में व्यक्ति पैदा हुआ है उसका वर्चस्व होता है

वर्गीय प्रणाली

- हासिल की हुई स्थिति/हैसियत से जानी जाती है और जहां गतिशीलता के लिए अधिक स्थान उपलब्ध रहता है

अब इस्टेटस की प्रणाली के साथ साझापन होने के बावजूद—जिसमें दोनों में प्रदत्त सामाजिक स्थिति का या व्यक्ति कहां पैदा हुआ होता है इसका वर्चस्व रहता है— जाति प्रथा की एक ऐसी विशिष्ट संस्था है, जो चिन्हित की जाती है विभिन्न तरीकों से :

- शुद्धता और प्रदूषण के तर्क पर आधारित उच्च नीच सोपानक्रम पर टिकी “पवित्र” संस्था
- प्रचण्ड लचीलापन
- विशिष्ट जातियों की महानता की काल्पनिक कथाओं से रंग विभेद/असमावेश
- जाति व्यक्तिवाद विरोध को बढ़ावा देती है
- समूह/समुदाय के पास कर्ताशक्ति (एजेन्सी) न कि व्यक्ति के पास
- सामाजिक स्तरीकरण का चरम रूप
- सामाजिक नियंत्रण का चरम रूप
- वर्चस्वशाली समूह के पास कनिष्ठों के अधीनीकरण और उनके द्वारा (आज्ञा) पालन की क्षमता
- ‘अलग’ भी और ‘असमान’ भी
- हालांकि इसकी जड़ें हिन्दू धर्म में, मगर वह अन्य धर्मों में भी फैली है
- कर्म का सिद्धांत
- आंतरिक स्तरीकरण एक तरह से जाति प्रथा के विध्वंस के खिलाफ गारंटी का काम करता है।

अगर हम जाने-माने समाजविज्ञानी एम एन श्रीनिवास के विचारों को देखें तो वह बताते हैं :

जाति एक ऐसा 'आनुवंशिक, अंतर्विवाही (endogamous) आम तौर पर स्थानीय किस्म का समूह होता है जिसका पारम्परिक तौर पर एक व्यवसाय से ताल्लुक होता है और जातियों के सोपानक्रम में एक विशिष्ट स्थिति होती है। जातियों के बीच के सम्बन्ध अन्य तमाम बातों के अलावा, शुद्धता और छूआछूत की अवधारणा से संचालित होते हैं और आम तौर पर अधिकाधिक commensality जातियों के बीच सम्पन्न होती है।

(एम एन श्रीनिवास, कास्ट, पेज 98)

वह इस प्रणाली की एक और दिलचस्प विशेषता रेखांकित करते हैं :

“दोहरे संस्कृति” का उदय—एक संदर्भ में पारम्परिक मूल्यों पर टिके रहना और दूसरे संदर्भ में आधुनिक एवं समानतावादी मूल्यों पर।—इस दोहरी संस्कृति को संचालित करने वाला सिद्धांत होता है “व्यक्तियों की तरफ से परिस्थिति के हिसाब से व्यवहार करने का सचेत निर्णय।”

(एम एन श्रीनिवास, कास्ट, पेज 77)

जाति उच्चनीचता के आधार पर बना यह एक ऐसा सोपानक्रम है जिसमें “कोई भी तबका पूरी तरह विशेषाधिकारहीन नहीं रहता अपवाद महज उस तबके का होता है जो इस सामाजिक पिरामिड की बुनियाद में स्थित है। बाकियों के विशेषाधिकार भी सोपानक्रम आधारित होते हैं। यहां तक कि कानून भी विशेषाधिकार से संचालित होता है, लाजिम है कि हर तबके की रूचि रहती है कि यह प्रणाली बनी रहे।”

## [ 6. ]

जाति नामक इस 'अजूबे' को देखते हुए जो एक तरह से शेष दुनिया को हमारी अपनी 'विशेष सौगात' कही जा सकती है कि संरचना को स्पष्ट करते हुए कुछ अन्य बातें जोड़ी जा सकती हैं।

मसलन, आप जिस जाति में जनमे हैं, उसमें से बाहर नहीं निकल सकते हैं। व्यक्तिगत तौर पर आप भले ही इससे तौबा कर लें, मगर आप की सामाजिक पहचान उससे निर्धारित होती रहेगी। भारतीय समाज आज भी जाति के नाम पर

अलग-अलग तथा परत-दर-परत कई सोपानमय (hierarchical) समूहों में विभक्त है जिनके बीच विशाल सामाजिक अवरोध खड़े किए गए हैं। इन एकांतिक (exclusive) समूहों के बीच परस्पर अन्तर्क्रिया की वर्जनाएं रही हैं और इस देश की संस्कृति के रोम-रोम में इन वर्जनाओं, आडम्बरों और पाखण्डों को वैधता मिली हुई है। यह कहना भी उचित नहीं कि 'जातिव्यवस्था श्रम का विभाजन है, दरअसल यह श्रमिकों का विभाजन है।' और यह भी स्वतःस्फूर्त नहीं है न स्वाभाविक गुणों पर टिका है बल्कि वह माता-पिता के सामाजिक ओहदे पर टिका है। जन्म के कारण आपसी अन्तर्सम्बन्धों को रोकने वाली, एक दूसरे पर श्रेष्ठता का दावा करने वाली और उसके लिए साम दाम दण्ड भेद का सहारा लेने वाली तथा एक बड़े हिस्से पर वंचनाओं की विवशता थोपने वाली संस्कृति पूरे समाज पर हावी है।

जाति का जेण्डर (स्त्री पुरुष भेद) के साथ अभिन्न रूप से जुड़ाव है।

जैसे 'जाति स्त्रियों की जिन्दगियों से टकराती है और स्त्रियां उसके परिवर्तन में भूमिका अदा करती हैं।' (सुश्री लीला दुबे, Caste - M N Srinivas) वह जाति की तीन बुनियादी विशिष्टताएं रेखांकित करती हैं :

1. असमावेश या अलगाव (Exclusion or separation)  
(शादी और सम्बन्ध कौन संचालित करता है, जो जाति की भिन्नताओं को बनाए रखता है)
2. सोपानक्रम (Hierarchy)  
(सामाजिक ओहदे के हिसाब से श्रेणी और व्यवस्था का सिद्धांत)
3. अंतरनिर्भरता (Interdependence)  
(श्रमविभाजन जो सोपानक्रम और अलगाव से करीब से जुड़ा है)  
(वही)

कहने का तात्पर्य 'पुरुषों' द्वारा उच्च दर्जा हासिल किए बगैर स्त्रियों के बरअक्स जाति के पुर्नउत्पादन की कल्पना नहीं की जा सकती—जो सन्तान की 'जाति' और 'धर्म' 'तय करते' हैं। स्पष्ट है कि अंतरजातीय या अंतरधर्मीय विवाह की बेहद सीमित उपयोगिता होती है क्योंकि आम तौर पर पति की जाति/धर्म ही अगली पीढ़ी को मिलता है।



जैविक प्रजनन में महिलाओं की भूमिका ही

- उन्हें जाति की शुद्धता और उसकी सीमा रेखाएं तय करने में प्रमुख तौर पर जिम्मेदार बनाती हैं
- 'उसकी यौनिकता पर उचित नियंत्रण' की मांग पुख्ता करती है
- उचित सामाजिक नियंत्रण की प्रणाली के माध्यम से उसे हासिल किया जाता है
- पारिवारिक भूमिकाओं का आदर्शीकरण करती है
- यौन शुचिता की बात पर जोर दिया जाता है (वही, पेज 12)

इस तरह जाति की शुद्धता का विचार और उसकी अहमियत महिलाओं को जिन्दगी के सभी चरणों में प्रभावित करती है। कौमार्य के साथ जुड़ी अहमियत सीधे स्त्री शुद्धता से जुड़ी होती है।

## [ 7. ]

यह सही है कि जाति का उदगम यहीं हुआ, मगर एक क्षेपक के तौर पर यहां यह जानना दिलचस्प होगा कि क्या जाति जैसे जन्मजात भेदभाव की व्यवस्था क्या और कहीं मौजूद है ?

दक्षिण एशिया के हमारे पड़ोसी मुल्कों में—फिर चाहे पाकिस्तान हो, नेपाल हो, श्रीलंका हो—हम थोड़ा बहुत भिन्नताओं के साथ समाज के एक हिस्से में जातियों को देख सकते हैं, और दक्षिण एशिया के बाहर के मुल्कों में भी कहीं-कहीं जाति जैसे सामाजिक स्तरीकरणों को देख सकते हैं उदाहरण के तौर पर इण्डोनेशिया को देखें, जहां 20 वीं सदी के पूर्वार्द्ध के यूरोपीय साहित्य में हम तीन श्रेणियों में बंटी बाली की जाति प्रणाली को देख सकते हैं—त्रिवांगसा (त्रिज अर्थात् तीन बार जन्मे) या आभिजात्य, द्विजाति (दो बार जन्मे) और इसके बरअक्स एकजाति (एकबार जन्मे); उधर कमेटी फॉर ह्यूमन राइट्स इन नार्थ कोरिया के मुताबिक "हर उत्तरी कोरियाई नागरिक को आनुवंशिक आधार पर वर्ग और सामाजिक-राजनीतिक श्रेणी प्रदान की जाती है, जिस पर व्यक्ति का कोई नियंत्रण नहीं होता मगर वह उसके जीवन के सभी पक्षों को निर्धारित करती है' तो येमेन में एक आनुवंशिक आधार पर कायम अफ्रीकी मूल की अल अखदम जाति है जो येमेन की आबादी का लगभग 5 फीसदी है, जो परम्परागत तौर पर हाथ से जुड़े तमाम काम करती है।

वैसे जापान के बुराकूमिन जैसे बहिष्कृत समुदाय दक्षिण एशिया के बाहर शायद ही कहीं मिलते हैं जो जापानी सामाजिक प्रणाली के सबसे निचली पायदान पर मौजूद रहा है और ऐतिहासिक तौर पर प्रचण्ड भेदभाव का शिकार रहा है। अपनी झोपड़ियों में रहने के लिए अभिशप्त बुराकू जापानी सामन्ती युग के उन बहिष्कृत समुदायों के सदस्य थे जो अशुद्ध कहे जाने वाले पेशों में या मृत्यु के साथ जुड़े कामों में संलग्न थे (उदाहरण के तौर पर जल्लाद, कसाई या चमड़े के काम में लगे लोग या बूचड़खानों में काम करने वाले) सामन्ती काल में अन्य समुदायों के सदस्यों से अन्तर्क्रिया करते हुए बुराकूओं से यह उम्मीद की जाती थी कि वे उनके प्रति अपने सम्मान का प्रदर्शन करे, अपने सर पर रखी पगड़ी उतारें और उन्हें आम लोगों से हीन समझा जाता था।

सामन्ती प्रणाली की समाप्ति के बाद कानूनी तौर पर भले ही 1871 में उन्हें मुक्त किया गया हो, मगर उसके चलते उनके साथ जारी सामाजिक भेदभाव का अन्त नहीं हुआ है और न ही उन्हें निम्न जीवनस्तर से मुक्ति मिली है। प्रतिबन्धों, वर्जनाओं के लम्बे इतिहास ने यह स्थिति पैदा की है कि 1980 के बाद अधिकाधिक युवा बुराकू—राजनीतिक समूहों से प्रेरणा पाकर सामाजिक विषमताओं के खिलाफ संघर्ष करने के लिए संगठित हो रहे हैं।

वैसे भेदभाव की उन तमाम व्यवस्थाओं के साथ तुलना करें तो जाति का 'अनोखापन' स्पष्ट होता है, जिसने इन्सानियत के एक हिस्से को ईश्वर के दर्शन से भी वंचित रखा है और आप कह उठते हैं कि 'जाति जैसी कोई अन्य व्यवस्था नहीं!'

## [ 8. ]

वैसे जाति की इस विशिष्ट संरचना के बारे में यह बात तो सभी जानते हैं कि उसे दैवी स्वीकृति मिली है। एक ऐसी संरचना जो शुद्धता, प्रदूषण, जनम आदि के आधार पर खड़ी हो जहां विभिन्न तबकों को आपस में बांटने वाला ऐसा सोपानक्रम बना हो, जिसमें हर कोई दूसरे को नीचा दिखाने में गर्व महसूस करता हो, जिस प्रणाली को सामाजिक वैधता हासिल हो, वही प्रणाली अगर मनुस्मृति जैसे धर्मशास्त्र की स्वीकृति के नाम पर, दैवी स्वीकृति के नाम पर संचालित होने की बात करें, तो उसके बदलने में कितनी मुश्किलें दरपेश आएंगी इसका अन्दाजा ही लगाया जा सकता है।

मिसाल के तौर पर डॉ. अम्बेडकर ('द अनटचेबल्स एण्ड पैक्स ब्रिटानिका' से उद्धृत) में स्पष्ट करते हैं :

‘एक हिन्दू पुरुष या स्त्री, जो कुछ भी वह करते हैं, वह धर्म का पालन कर रहे होते हैं। एक हिन्दू धार्मिक तरीके से खाना खाता है, पानी पीता है, धार्मिक तरीके से नहाता है या कपड़े पहनता है, धार्मिक तरीके से ही पैदा होता है, शादी करता है और मृत्यु के बाद जला दिया जाता है। उसके सभी काम पवित्र काम होते हैं। एक धर्मनिरपेक्ष नज़रिये से वह काम कितने भी गलत क्यों न लगें, उसके लिए वह पापी नहीं होते क्योंकि उन्हें धर्म के द्वारा स्वीकृति मिली होती है। अगर कोई हिन्दू पर पाप करने का आरोप लगाता है, उसका जवाब होता है, ‘अगर मैं पाप करता हूँ, तो मैं धार्मिक तरीके से ही पाप करता हूँ।’

अपने एक आलेख में डॉ. अम्बेडकर ने जातिप्रथा से जूझने की चुनौतियों के सन्दर्भ में किन्हीं सर टी माधव राव की बात को उद्धृत किया है। उनके मुताबिक हिन्दु समाज के बारे में बोलते हुए श्री माधव राव ने कहा था :

“जितना अधिक व्यक्ति जिन्दा रहता है, चीजों का अवलोकन करता है और सोचता है, उतनी ही गहराई से वह यह महसूस करने लगता है कि पृथ्वी पर अन्य कोई समुदाय ऐसा नहीं है जो हिन्दू समुदाय की तरह राजनीतिक बुराइयों की वजह से कम और आत्मकृत, स्वस्वीकृत या स्वनिर्मित या (self-inflicted or self-accepted or self-created) बुराइयों की वजह से अधिक— और इसलिए टाली जाने लायक बुराइयों से—तंग रहता है।”

डॉ. अम्बेडकर आगे लिखते हैं कि

“यह नज़रिया हिन्दू समाज में सामाजिक सुधार की जरूरत को अचूक ढंग से एवं बिना अतिशयोक्ति के प्रगट करता है। पहला समाज सुधारक और उन सभी में सबसे महान गौतम बुद्ध था। समाज सुधार के किसी भी इतिहास को उसी से शुरू होना होगा और भारत में समाज सुधार का कोई भी इतिहास जो उसकी महान उपलब्धियों को समाहित नहीं करता, वह पूरा नहीं समझा जा सकता।”

अपनी बहुचर्चित किताब 'जातिभेद का उन्मूलन' में वह इस सिलसिले को आगे बढ़ाते हुए हिन्दू धर्म, उसकी जाति व्यवस्था एवं धार्मिक किताबों की आलोचना प्रस्तुत करते हैं और आगे यह भी जोड़ते हैं कि जाति उन्मूलन के लिए अंतरजातीय भोजन और अंतरजातीय विवाह काफी नहीं है बल्कि उन धार्मिक धारणाओं को ध्वस्त करना होगा, जिन पर जाति आधारित है।

दिलचस्प है कि भारत की आज़ादी के संघर्ष में शहीदे आज़म के नाम से आज भी याद किए जाते रहे भगत सिंह ने भी अपने संक्षिप्त राजनीतिक जीवन में जाति व्यवस्था के उन्मूलन के कार्यभार को बखूबी पहचाना था। अपने एक सारगर्भित लेख 'अछूत समस्या' में उन्होंने इस मसले पर अपनी समझदारी पेश की थी। (<https://www.marxists.org/hindi/bhagat-singh/1923/achoot-samasya.htm>) मालूम हो कि भगतसिंह का यह लेख जून, 1928 के 'किरती' में विद्रोही नाम से प्रकाशित हुआ था। यही वह वक्त था डॉ. अम्बेडकर की अगुआई में ऐतिहासिक महाड़ सत्याग्रह का दूसरा चरण पूरा हो चुका था— जिसके तहत मनुस्मृति का दहन हुआ था (25 दिसम्बर 1927)— और दलित मुक्ति के एक स्वायत्त आन्दोलन की नींव पड़ी थी।

'अछूत समस्या' लेख में पहला मुद्दा उठाया गया था भारतीय समाज के पाखंड का जिसमें भगतसिंह ने लिखा था :

हमारा देश बहुत अध्यात्मवादी है, लेकिन हम मनुष्य को मनुष्य का दर्जा देते हुए भी झिझकते हैं जबकि पूर्णतया भौतिकवादी कहलाने वाला यूरोप कई सदियों से इन्कलाब की आवाज उठा रहा है। उन्होंने अमेरिका और फ्रांस की क्रांतियों के दौरान ही समानता की घोषणा कर दी थी। आज रूस ने भी हर प्रकार का भेदभाव मिटा कर क्रांति के लिए कमर कसी हुई है। हम सदा ही आत्मा-परमात्मा के वजूद को लेकर चिन्तित होने तथा इस जोरदार बहस में उलझे हुए हैं कि क्या अछूत को जनेऊ दे दिया जाएगा? ...अंग्रेजी शासन हमें अंग्रेजों के समान नहीं समझता। लेकिन क्या हमें यह शिकायत करने का अधिकार है?

...कुत्ता हमारी गोद में बैठ सकता है। हमारी रसोई में निःसंग

फिरता है, लेकिन एक इन्सान का हमसे स्पर्श हो जाए तो बस धर्म भ्रष्ट हो जाता है। ...पशुओं की हम पूजा कर सकते हैं, लेकिन इन्सान को पास नहीं बिठा सकते!

वह आगे जोड़ते हैं :

जब तुम उन्हें इस तरह पशुओं से भी गया-बीता समझोगे तो वह जरूर ही दूसरे धर्मों में शामिल हो जाएंगे, जिनमें उन्हें अधिक अधिकार मिलेंगे, जहाँ उनसे इन्सानों-जैसा व्यवहार किया जाएगा। फिर यह कहना कि देखो जी, ईसाई और मुसलमान हिन्दू कौम को नुकसान पहुँचा रहे हैं, व्यर्थ होगा।

तीसरे वह उन नेताओं को बेपर्द करते हैं जो इस मसले पर दोहरा रवैया रखते हैं :

इस समय मालवीय जी जैसे बड़े समाज-सुधारक, अछूतों के बड़े प्रेमी और न जाने क्या-क्या पहले एक मेहतर के हाथों गले में हार डलवा लेते हैं, लेकिन कपड़ों सहित स्नान किये बिना स्वयं को अशुद्ध समझते हैं! क्या खूब यह चाल है!

‘अधिक अधिकारों की मांग के लिए अपनी अपनी कौमों की संख्या बढ़ाने के लिए’ अछूतों को अपने साथ जोड़ने के लिए उन कौमों के बीच चली स्पर्धा और इस पृष्ठभूमि में उनके बीच अलग संगठन बनाने के चले सिलसिले का जिक्र करते हुए वह सवाल उठाते हैं कि ‘..इस समस्या का सही निदान क्या हो?’ और इसके जवाब में कहते हैं कि

‘...सबसे पहले यह निर्णय कर लेना चाहिए कि सब इन्सान समान हैं तथा न तो जन्म से कोई भिन्न पैदा हुआ और न कार्य-विभाजन से। अर्थात् क्योंकि एक आदमी गरीब मेहतर के घर पैदा हो गया है, इसलिए जीवन भर मैला ही साफ करेगा और दुनिया में किसी तरह के विकास का काम पाने का उसे कोई हक नहीं है, ये बातें फिजूल हैं।’

जाति व्यवस्था बनाए रखने के लिए जिस तरह ‘पुनर्जन्म के दर्शन का प्रचार किया गया’ तथा उनकी स्थिति को उनके ‘पूर्व जन्म के पापों का फल’ बताया गया

और किस तरह 'मानव के भीतर की मानवीयता को समाप्त कर दिया। आत्मविश्वास एवं स्वावलम्बन की भावनाओं को समाप्त कर दिया। बहुत दमन और अन्याय किया गया।' इसको रेखांकित करते हुए तथा उसके प्रति 'प्रायश्चित' करने की जरूरत रेखांकित करते हुए वह जोड़ते हैं कि उन्हें 'अपने जैसा इन्सान समझना, ...उन्हें अपने में शामिल करके उनके हाथ से पानी पीना, यही उचित ढंग है।'

इन कौमों द्वारा अपने आप को संगठित करने तथा बराबर अधिकारों की मांग उठाने को 'आशाजनक संकेत' बताते हुए वह 'कौंसिलों और असेम्बलियों के इस कर्तव्य को रेखांकित करते हैं कि वह इन कौमों के नागरिक अधिकार सुरक्षित करें और उनके साथ हो रहे भेदभाव को समाप्त कराए।

अन्त में वह 'अछूत कहलाने वाले असली जनसेवको तथा भाइयों' को ललकारते हुए उन्हें अपना गौरवशाली इतिहास बताते हैं और 'संगठनबद्ध हो अपने पैरों पर खड़े होकर पूरे समाज को चुनौती देने' का आवाहन करते हैं। वह लिखते हैं :

'तब देखना, कोई भी तुम्हें तुम्हारे अधिकार देने से इन्कार करने की जुरत न कर सकेगा। तुम दूसरों की खुराक मत बनो। दूसरों के मुँह की ओर न ताको। लेकिन ध्यान रहे, नौकरशाही के झाँसे में मत फँसना। यह तुम्हारी कोई सहायता नहीं करना चाहती, बल्कि तुम्हें अपना मोहरा बनाना चाहती है। यही पूँजीवादी नौकरशाही तुम्हारी गुलामी और गरीबी का असली कारण है। इसलिए तुम उसके साथ कभी न मिलना। उसकी चालों से बचना। तब सब कुछ ठीक हो जायेगा। तुम असली सर्वहारा हो... संगठनबद्ध हो जाओ। तुम्हारी कुछ भी हानि न होगी। बस गुलामी की जंजीरें कट जाएंगी। उठो, और वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बगावत खड़ी कर दो। धीरे-धीरे होने वाले सुधारों से कुछ नहीं बन सकेगा। सामाजिक आन्दोलन से क्रांति पैदा कर दो तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रांति के लिए कमर कस लो। तुम ही तो देश का मुख्य आधार हो, वास्तविक शक्ति हो। सोए हुए शेरों! उठो और बगावत खड़ी कर दो।

देखा जा सकता है कि 'सामाजिक आन्दोलन से क्रांति पैदा करने' और फिर

‘राजनीतिक और आर्थिक क्रांति के लिए कमर कसने’ की बात करने वाले शहीदे आज़म भगतसिंह के जाति उन्मूलन के बारे में विचारों में तथा डॉ. अम्बेडकर की इस सन्दर्भ में परिकल्पना में काफी समानताएं हैं। दोनों समाज के पाखण्ड पर हमला बोल रहे हैं, जाति समस्या के प्रति उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन के नेतृत्व के दोहरे रूख के बारे में दोनों सचेत हैं, धर्मशास्त्रों की अमानवीयता तथा उनके मानवद्रोही चिन्तन के बारे में दोनों को भ्रम नहीं है और उत्पीड़ितों के स्वायत्त संगठनों के दोनों पक्षधर हैं और अन्त में इन तबकों में निहित क्रांतिकारी संभावनाओं से वह न केवल परिचित हैं बल्कि उसी को आगे आने के लिए कह रहे हैं। (देखें भगतसिंह पर अम्बेडकर)

कोई भी बता सकता है कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत की राजनीतिक आज़ादी और सामाजिक मुक्ति के लिए जो संघर्ष चला, उसमें भगतसिंह अलग ढंग से निखर कर सामने आते हैं। भगतसिंह “‘मैं नास्तिक क्यों हूँ” की बात करते हैं जबकि उनकी अपनी पीढ़ी या पहले वाली सदी में ऐसे अग्रणियों की कोई कमी नहीं है, जिनमें अतीत का जबरदस्त सम्मोहन दिखता है और जो धर्म को उसका पुराना गौरव लौटाना चाहते हैं और ऐसी शिखिसयतें अपवाद ही हैं जो तर्कशीलता, आधुनिकता की बात पर जोर देते हुए समूचे मानव समाज की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं।

यह अलग बात है कि उनकी शहादत के 87 साल के बाद और डॉ. अम्बेडकर के निधन के ठीक बासठ बरस के बाद भी जाति व्यवस्था विलोप के रास्ते जाने के बजाय और भी दृढ़ मूल होती दिखती है, समाज के मन में बने रहने के लिए उसने नए ठिकाने ढूंढ लिए हैं।

क्या यह ऐसे ही चलेगा या भगतसिंह-अम्बेडकर के पथ के राही 21 वीं सदी में इसकी समाप्ति के लिए नयी तरकीब सोचेंगे, इसका जवाब नौजवानों को ही देना है।

## परिशिष्ट

### कब तक अत्याचार मुक्त होगा भारत ?

अनुसूचित जाति- जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम को  
कमजोर करने का विरोध करो!

2 अप्रैल का ऐतिहासिक भारत बन्द लम्बे समय तक याद किया जाएगा, जब बिना किसी बड़ी पार्टी के आवाहन के लाखों लाख दलित एवं वंचित भारत की सड़कों पर उतरें और उन्होंने अपने संघर्ष एवं अपने जज्बे से एक नयी नज़ीर कायम की। आज़ादी के सत्तर सालों में यह पहला मौका था कि किसी अदालती आदेश ने ऐसी व्यापक प्रतिक्रिया को जन्म दिया था।

ध्यान रहे कि इस आन्दोलन के दौरान हिंसा हुई और चन्द निरपराधों की जानें गईं, उसे कहीं से भी उचित नहीं कहा जा सकता! मगर क्या इसी वजह से व्यापक जनक्रोध की इस अभिव्यक्ति के उजागर किए सवालों की अहमियत कम हो जाती है? निश्चित ही नहीं!

वैसे इन तथ्यों की पड़ताल करना भी समीचीन होगा कि—जैसा कि कई स्वतंत्र विश्लेषणों में स्पष्ट किया गया है—कई स्थानों पर इस हिंसा के पीछे दक्षिणपंथी संगठनों एवं उनके कारिन्दों का हाथ था, जो दलित उभार को कुचलना चाहते थे तथा साथ ही साथ उसे बदनाम करना चाहते थे। (<https://thelocalindian.com/fact-check/dalits-beat-jodhpur-po>)



liceman-fake/, <http://www.janchowk.com/Beech-Bahas/bharat-band-truth-of-violence/2361>, <http://www.timesnownews.com/india/article/scst-act-bjp-worker-raja-chauhan-booked-for-firing-during-bharat-bandh-protests-in-gwalior-bharatiya-janata-party-madhya-pradesh/213651>)

इस आन्दोलन का फोकस देश की सर्वोच्च न्यायालय द्वारा हाल ही में दिए गए एक फैसले पर था (20 मार्च 2018) जिसने वर्ष 1989 में बने अनुसूचित जाति जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम के कथित तौर पर कमजोर किए जाने की संभावना पैदा की है।

मालूम हो कि न्यायमूर्ति आदर्श गोयल और यू यू ललित की द्विसदस्यीय पीठ ने अपने इस फैसले में एक तरह से उपरोक्त अधिनियम के अमल को लेकर कुछ दिशानिर्देश दिए हैं। इन्हीं के चलते व्यापक आबादी में शंकाएं पैदा हुई हैं। इस अधिनियम के तहत अब

- जो अभियुक्त हैं उनकी तत्काल गिरफ्तारी के प्रावधान पर अब रोक लगेगी और पीड़ित द्वारा शिकायत दायर किए जाने के एक सप्ताह के अन्दर पुलिस प्रारंभिक जांच करके ही प्रथम सूचना रिपोर्ट दायर करेगी।
- आरोपित सरकारी मुलाजिमों को तभी गिरफ्तार किया जा सकेगा जबकि उच्च पदस्थ अधिकारियों से लिखित अनुमति मिल सकेगी।
- जहां इस कानून की धारा 18 के तहत अग्रिम जमानत के प्रावधान को नहीं रखा गया है, वहीं इस फैसले ने इसे मंजूरी दी है।

सवाल यह उठता है कि संसद ने जिस कानून को पारित किया हो, उसे लेकर द्विसदस्यीय पीठ दिशानिर्देश किस तरह जारी कर सकता है? अदालतों का काम होता है कानून की पड़ताल करना और उसके मुताबिक अपना निर्णय देना। यह तय करना कि कानून क्या है और न ही यह तय करना कि उसे क्या होना चाहिए?

क्या यह फैसला इस तरह संसद के अधिकारों का अतिक्रमण नहीं करता? क्या

यह अधिकारातीत नहीं है ?

इस बात को कैसे भूला जा सकता है कि राजीव गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार ने इस अधिनियम को लम्बे विचारविमर्श के बाद तब बनाया था जब वर्ष 1955 में बने 'प्रोटेक्शन ऑफ सिविल राईट्स एक्ट' की सीमाएं बार-बार सामने आ रही थीं, जो दलितों-आदिवासियों को न्याय दिलाने में असफल साबित होता दिख रहा था। संसद के बहुमत ने इसके तमाम प्रावधानों पर लम्बी बहस करके इस पर अपनी मुहर लगायी थी और इस अत्याचार निवारण अधिनियम 1989 का निर्माण किया गया था, जिसमें कई अहम प्रावधान शामिल किए गए थे। जैसे इसके तहत

- इन वंचित तबकों को तुरंत न्याय दिलाने के लिए लिये विशेष अदालतों का गठन
- अपने कर्तव्यों में लापरवाही के लिए अधिकारियों को दण्ड,
- उत्पीड़कों के चल-अचल सम्पत्ति की कूर्की
- इलाके की दबंग जातियों के हथियारों को जब्त करना,
- इलाका विशेष को अत्याचारप्रवण (Atrocity Prone) घोषित कर वहां विशेष इन्तज़ाम करने
- पीड़ितों को तत्काल मुआवजा प्रदान करने
- आत्मरक्षा के लिए अत्याचार पीड़ितों में हथियार वितरण का प्रावधान (भारत के किसी भी कानून में ऐसा प्रावधान नहीं दिखता)

इनमें से ज्यादातर प्रावधान इतने सख्त हैं कि एक बार इसके तहत गिरफ्तारी होने पर जल्द जमानत भी नहीं हो पाती। विडम्बना यही कही जा सकती है कि इस कानून की मूल भावना के हिसाब से कभी इस पर अमल नहीं होने दिया गया। यह हकीकत पूर्व न्यायमूर्ति श्री वी के कृष्णा अययर के उस विश्लेषण की याद दिलाती जहां उन्होंने इस बात को रेखांकित किया था कि 'ज्यादा प्रभावी, ज्यादा समग्र और ज्यादा दण्डात्मक प्रावधानों वाले' अधिनियम को बनाने के बावजूद 'सत्ताधारी तबकों ने इस बात को सुनिश्चित किया कि व्यावहारिक स्तर पर ये विधेयक कागजी बाघ बने रहें।' (देखें— दलित उत्पीड़न : विधिक उपचार, एस एल मीमरोट की किताब को लिखी प्रस्तावना)

## बढ़ता अत्याचार, घटता न्याय

हमारे संविधान के तहत, राज्य की तीनों शाखाओं में—विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका—अधिकारों का स्पष्ट विभाजन दिखता है। आम तौर पर यह तीनों एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र में शायद ही कभी प्रवेश करते हैं। यह अदालत का काम नहीं समझा जाता कि वह किसी कानून के दायरे को विस्तारित कर दे। अदालतें किसी भी कानून को नए सिरे से ढाल नहीं सकती क्योंकि यह काम विधायिका का होता है। और जिस तरह अधूरे तथ्यों के आधार पर—जिन्हें अदालत के सामने रखने में खुद केन्द्र सरकार जिम्मेदार है—सर्वोच्च न्यायालय की द्विसदस्यीय पीठ ने फैसला सुनाया है, वह एक तरह से इस अधिनियम की आत्मा पर ही प्रहार दिखता है (<https://thewire.in/law/sc-reviews-judgment-sc-st-act-centre-errors>)

इस पृष्ठभूमि में यह प्रतीत होना स्वाभाविक है कि प्रस्तुत फैसला एक तरह से न्यायपालिका द्वारा विधायिका के काम में दखल देता है।

फैसले को लेकर चिन्ता की कई वजहें हैं जिसमें दलितों-आदिवासियों के खिलाफ अत्याचार - जो समाज के सबसे उत्पीड़ित, दमित तबकों की श्रेणी में आते हैं और अन्य अपराधों में एक तरह से विभाजक रेखा खींची गयी है।

हर पुलिस थाने में लिखा रहता है कि प्रथम सूचना रिपोर्ट पाना आप का अधिकार है और अगर ऐसा करने में पुलिस आनाकानी करे तो पीड़ित वरिष्ठ अधिकारियों से शिकायत कर सकता है। इस तरह अगर साधारण अपराधों में प्रथम सूचना रिपोर्ट दर्ज कराने को लेकर पुलिस बाध्य है और इस सिलसिले में आवश्यक कार्रवाई करने को लेकर कानून के मुताबिक वह मजबूर है तो समाज के सबसे वंचित-उत्पीड़ित तबकों की सुरक्षा के लिए संसद ने जिस विशेष कानून को बनाया है, उसका अमल करने में 'दुरुपयोग' के नाम पर दोहरा मापदंड कैसे अपनाया जा सकता है? क्या सर्वोच्च न्यायालय ने यह किस आधार पर तय किया कि 'बदले' की भावना से शिकायतें दर्ज होती हैं, जबकि सरकारी रिपोर्टें कुछ अलग कहानी कहती हैं।

ध्यान रहे दलितों और आदिवासियों के खिलाफ बढ़ते अत्याचार सरकार की

अपनी रिपोर्टों में दर्ज हैं और वही रिपोर्टें बताती हैं कि जहां अत्याचार बढ़े हैं वहीं दोषसिद्धि की दर कम हो रही है।

आंकड़ें बताते हैं कि

- हर पन्द्रह मिनट में दलित के खिलाफ अपराध होता है।
- हर सप्ताह औसतन ग्यारह दलित देश में मारे जाते हैं।
- छह दलित महिलाओं पर हर दिन यौन अत्याचार होता है। पिछले दस सालों में यह संख्या दुगुनी हुई है।
- विगत दस सालों में (2007-2017) दलितों के खिलाफ अपराधों में 66 फीसदी बढ़ोत्तरी हुई है।
- दलितों के खिलाफ दर्ज अत्याचारों के 78 फीसदी मामलों में आरोपपत्र दाखिल किए जा सके हैं अर्थात् पहली नज़र में आरोप सही पाए गए हैं और यह बात तथ्यों से परे हैं कि ऐसे मुकदमे बदले की भावना से दर्ज किए जाते हैं।

रेखांकित करने वाली बात है कि जहां द्विसदस्यीय पीठ ने कानून के कथित दुरुपयोग को लेकर गार्डिलाइन जारी कर दी, वहीं महज सवा साल पहले सर्वोच्च न्यायालय की त्रिसदस्यीय पीठ जिसकी अगुआई मुख्य न्यायाधीश टी एस ठाकुर कर रहे थे,— जिसके अन्य सदस्यों में न्यायमूर्ति डी वाई चंद्रचूड और न्यायमूर्ति ए नागेश्वर राव शामिल थे—उन्होंने अनुसूचित जाति जनजातियों के अत्याचार एवं भेदभाव से मुक्त करने के सरकारी दावों और जमीनी हकीकत के बीच व्याप्त गहरे अंतराल को बेपर्दा किया था।

पीठ का साफ मानना था कि अनुसूचित जातियों-जनजातियों की रक्षा के लिए बने 'अनुसूचित जाति-जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989' के कानूनी प्रावधानों के अमल को लेकर न केवल तमाम राज्य सरकारें बल्कि केन्द्र सरकार भी बुरी तरह असफल रहे हैं।' उनका कहना था कि 'जिन उदात्त मकसद के साथ अधिनियम को बनाया गया उसके प्रति सरकारों का बेरूखी भरा नज़रिया' इसके लिए जिम्मेदार है। (Govts fail to curb atrocities against SCs, STs, says SC, टाईम्स ऑफ़ इंडिया, 19 दिसम्बर 2016)

## केस स्टडीज-2

पहली खबर राजस्थान की जो उत्पीड़ित जातियों पर अत्याचारों को रोकने के लिए बने कानून के मद्देनजर सरकारी स्तर पर अपनायी जाती कछुआ चाल को बेपर्द करती है। राजस्थान उच्च अदालत ने इस सम्बन्ध में राजस्थान सरकार से जवाब मांगा था और पूछा था कि आखिर कानून बनने के 22 साल बाद भी पीड़ितों एवं गवाहों के पुनर्वास के लिए योजना क्यों नहीं बनायी गयी हैं और उन्हें राहत क्यों नहीं प्रदान की जा रही है। न्यायाधीश एस झवेरी और न्यायमूर्ति दिनेश मेहता की द्विसदस्यीय पीठ दलित मानवाधिकार समिति की याचिका पर गौर कर रही थी। (डेली न्यूज, 29 नवम्बर 2016)

याचिकाकर्ता ने अदालत को सूचित किया था कि इस अहम कानून के तहत इसके लिए विशेष प्रावधान किया गया है और यह पीड़ितों का कानूनी अधिकार भी है, मगर सरकार ने इस मामले में आंखें मूंदी हैं। उसके मुताबिक विगत 20 सालों में अत्याचार के शिकार 19 परिवार गांव छोड़ चुके हैं, मगर न सरकार ने उनकी सुध ली और न पुनर्वास की कोशिश की। याचिका में इस बात का भी विवरण पेश किया कि वर्ष 2005 से 2015 के अंतराल में राजस्थान दलित उत्पीड़न में दूसरे नम्बर पर रहा है। दूसरी तरफ 'द हिन्दू' की एक रिपोर्ट (<http://www.governancenow.com/views/columns/how-india-let-the-dalits>) राजस्थान में दलित अत्याचारों का एक और विदारक पहलू प्रस्तुत करती है। उसके मुताबिक राजस्थान में दर्ज कुल अपराधों में से 52 से 65 फीसदी मामलों में दलित ही पीड़ित होता है, जबकि वहां दलितों की आबादी महज 17.8 फीसदी ही है।

अनुसूचित तबकों की हिफाजत के लिए बने कानून जमीनी स्तर पर किस तरह दंतहीन साबित होते जाते हैं, इसकी एक दूसरी मिसाल सूबा महाराष्ट्र से आयी थी, जिसके मुताबिक ऐसे तमाम मामलों में

केस खारिज होने की वजह यही होती है कि गवाह पलट जाते हैं। एक अग्रणी अखबार में प्रकाशित हालिया रिपोर्ट बताती है कि 2014 से 2016 के दरमियान जिन 889 मामलों में अभियुक्त बेदाग छूट गए, इनमें से चार में से एक मामले में शिकायतकर्ता खुद अपनी बात बदल देते हैं। इसके अलावा बलात्कार, हत्या, डकैती जैसे गंभीर मामलों में 243 गवाह पलट गए, जबकि उनका वक्तव्य पीड़ित की अहम मदद कर सकता था। कुल मिला कर अभियुक्तों के इस तरह 'बेदाग' बरी होने के मामले 54.33 फीसदी थे। (इंडियन एक्सप्रेस, 6 दिसम्बर 2016) वर्चस्वशाली उत्पीड़क किस तरह केस वापस करने के लिए दबाव डालते हैं, इसकी चर्चा करते हुए रिपोर्ट एक कार्यकर्ता के हवाले से बताती है कि सोलापुर के एक मामले में बलात्कार पीड़िता ने अपना केस खुद वापस लिया जब उसके परिवार पर सामाजिक बहिष्कार हुआ या दूसरे मामले में जब उत्पीड़ित दलित के घर पर पथराव किया गया तो उन्होंने खुद ही केस आगे न ले जाने का निर्णय लिया।

दलित हत्याओं के मामले में फैसला सुनाते हुए एक अन्य मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने फिर कुछ खरी-खरी बातें कही थीं :

“सदियों पुरानी जाति व्यवस्था के कारण समय-समय पर लोगों की जान जाती है। यह मामला एक सभ्य देश में तथाकथित अगड़ी जातियों के तथाकथित निचली जातियों के खिलाफ किए गए दमन का सबसे बुरा स्वरूप है। कानून और लोकतंत्र की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए हमारे देश से जाति व्यवस्था को जल्दी खतम किया जाना जरूरी है।”

ताजा मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह विवादास्पद बात भी कही है कि यह कानून 'जातिवाद' को बढ़ावा देता है और समाज में भाईचारे को खतम करता है। निश्चित ही सदियों से तमाम मानवीय अधिकारों से वंचित रखे गए दलित आदिवासी जब अपने खिलाफ हुए अन्याय अत्याचार का विरोध करें तथा समान नागरिक के तौर पर अपने साथ व्यवहार की बात करें तो वह समाज में भाईचारे को खतम करते हैं, इस किस्म के तर्क का निष्कर्ष यही निकलता है कि उन्हें उनके साथ हुए हर दुर्व्यवहार, अन्याय-

अत्याचार को चुपचाप बरदाश्त करना चाहिए, जबकि संविधान निर्माण के वक्त ही जाति, जेण्डर, नस्ल, धर्म तथा अन्य श्रेणियों के आधार पर हर किस्म के भेदभाव की समाप्ति का ऐलान किया गया था।

आज से बाईस साल पहले राजस्थान की महिला सामाख्या कार्यक्रम की साथिन भंवरी देवी के साथ हुए सामूहिक बलात्कार के मामले में सभी अपराधियों को— जो कथित ऊंची जातियों के थे, जिनमें से एक ब्राह्मण और बाकी गुजर जाति के थे— बरी करते हुए न्यायाधीश महोदय ने कहा था कि “अपनी जाति शुद्धता को अपवित्र करने की कीमत पर इन लोगों ने एक “नीची जाति” की स्त्री से बलात्कार नहीं किया होगा।” सर्वोच्च न्यायालय का ताजा फैसला बताता है कि अभी न्यायपालिका वहीं कदमताल किए जा रही है, जहां बाईस साल पहले थी। यह अकारण नहीं कि दलितों-आदिवासियों पर अत्याचारों के मामले में दोषसिद्धि की दर 2 से 3 फीसदी से अधिक नहीं है।

अदालत के इस फैसले को लेकर केन्द्रीय सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री थावरचंद गहलोत को लिखे अपने पत्र में केन्द्रीय समाज कल्याण विभाग के पूर्व सेक्रेटरी पी एस कृष्णन ने—जिन्होंने 1989 के इस कानून को बनाने में अहम भूमिका अदा की थी—उन प्रचंड बाधाओं का उल्लेख किया है कि अपने संवैधानिक अधिकार हासिल करने के लिए ही दलितों आदिवासियों को किस तरह भयानक अत्याचारों—जिसमें जनसंहार, आगजनी, सामाजिक आर्थिक बहिष्कार और तरह तरह के अपमान शामिल हैं—का सामना करना पड़ता है (<https://thewire.in/law/dilution-of-sc-st-atrocities-act-will-have-a-crippling-effect-on-social-justice>) और यह ‘तथ्य इतने चर्चित हैं कि सर्वोच्च न्यायालय को उनकी जुडिशियल नोट लेनी पड़ेगी।’

प्रस्तुत कानून की अहमियत को नए सिरे से रेखांकित करते हुए वह मोदी सरकार से यह आग्रह करते हैं कि उसे चाहिए कि वह कुछ “कुख्यात” मामलों को सर्वोच्च न्यायालय के सामने पेश करे ताकि उसे इस बात का एहसास हो कि “भारत में जाति व्यवस्था के चलते सत्ताधारी बनाम सत्ताविहीन का जो ध्रुवीकरण कायम है, उसमें सही जांच कर पाना और उसे अंजाम तक पहुंचाना कितना मुश्किल होता है।” (वही)

किशोरेणमन्त्री, तमिलनाडु /1968/ जिसमें अनुसूचित जाति के 44 लोगों को— जिनमें मुख्यतः बच्चे और महिलाएं शामिल थीं—जिन्दा जला कर मार डाला गया क्योंकि अनुसूचित जाति के इन मजदूरों ने खेत मजदूरी बढ़ाने की मांग की थी। उच्च न्यायालय ने सभी अभियुक्तों को बाइज्जत बरी कर दिया। मालूम हो अदालत का तर्क था कि “इस बात पर सहसा यकीन करना मुश्किल है कि ऊंची जाति के यह लोग पैदल दलित बस्ती तक गए होंगे, लिहाजा सन्देह का लाभ देकर उन्हें बरी किया जाता है।

करमचेदु, आंध्र प्रदेश, (1984) : पांच दलितों का कत्लेआम हुआ। सेशन अदालत ने कई अभियुक्तों को सज़ा सुनायी। उच्च न्यायालय ने सभी को बरी किया। सर्वोच्च न्यायालय ने सेशन अदालत के फैसले को कायम रखा—जो इस बात का साफ उदाहरण था कि अदालत से ‘बाइज्जत रिहाई’ का मतलब झूठे केस नहीं होते।

चुंदूर, आंध्र प्रदेश, (1991) : आठ दलितों की हत्या हुई। निचली अदालत ने अभियुक्तों को 2007 में सज़ा सुनायी। उच्च न्यायालय ने 2014 में सभी को बरी किया। केन्द्र सरकार द्वारा इस मामले में डाली याचिका सर्वोच्च न्यायालय में विचाराधीन है, जिसने सभी संबंधित पक्षों को नोटिस जारी करने को कहा है और अभी तक चूँकि नोटिस दिए जाने सम्बन्ध में रिपोर्ट पहुंची नहीं है, लिहाजा केन्द्र की याचिका स्पेशल लीव पीटिशन में तब्दील नहीं हो सकी है। कृष्णन लिखते हैं “यह मिसाल है कि किस तरह विलम्ब हमारी व्यवस्था का बुनियादी अंग है और हर अतिरिक्त प्रोसिजर इस विलम्ब को बढ़ावा देता है, जैसी कोशिश 20 मार्च के अदालती फैसले में दिखती है।”

बिहार में जनसंहार के छह मामले जिसमें बथानी टोला (1996) और लक्ष्मणपुर बाथे (1997) शामिल हैं। इन सभी मामलों में निचली अदालतों ने अभियुक्तों को दोषी ठहराया, उच्च न्यायालय ने सभी अभियुक्तों को बरी किया। और ये मामले अभी भी सर्वोच्च न्यायालय के सामने विचाराधीन हैं।



कम्बलापल्ली, कर्नाटक : इस घटना का प्रमुख गवाह, जो परिवार का मुखिया भी था, जिसके सभी सदस्य मार दिए गए थे, उसने ही अदालत में अपनी बात बदल दी, जिसके चलते सभी अभियुक्त बरी हो गए। और उसे बाद में जब पूछा गया तो कि उसने बात क्यों बदली ? तो उसका जवाब था “पहले मुझे पूरी सुरक्षा दीजिए, तब मैं सच्चाई बताऊंगा।” (वही)

### जुबां पर अम्बेडकर, दिल में मनु

कोई भी देख सकता है कि एस सी एस टी एक्ट को कमजोर करने की इन कोशिशों ने केन्द्र में सत्ताधारी पार्टी की असलियत भी उजागर कर दी है। यह भी स्पष्ट हुआ कि किस तरह वह दो नावों पर पैर रख कर चलना चाहती है ? एक तरफ वह दलितों को खुश करने की बात करती है, मगर हकीकत में वर्चस्वशाली जातियों के हितों की हिफाजत करती है। (<https://www.dailyo.in/variety/bharat-bandh-dalits-amendment-of-atrocities-act-supreme-court-bjp-government-rajnath-singh-ravi-shankar-prasad/story/1/23276.html>)

इस केस ने इसके कई प्रमाण दिए।

—सरकार द्वारा दिए तथ्यों पर आधारित है यह फैसला।

अदालती मित्र ने बताया कि सर्वोच्च न्यायालय का फैसला सत्ताधारियों द्वारा दिए गए आंकड़ों पर ही आधारित है। यहां तक कानून के ‘कथित दुरुपयोग होने की बात खुद सरकार ने ही बतायी थी। और अग्रिम जमानत दिलाने के प्रावधान को भी इसी ने मंजूरी दी थी। (वही)

—अपना पक्ष कमजोर तरीके से रखना।

अदालत में इस मसले पर जब अपना पक्ष रखने के लिए सरकार को बुलाया गया तो उसने अपने सबसे बड़े वकील—एटर्नी जनरल—को भेजने के बजाय उनके जूनियर सालिसिटर जनरल को वहां भेजा, जिसने एक तरह से अधिनियम के पक्ष में बेहद कमजोर दलीलें दीं और खुद इस बात को रखा कि सरकार खुद इस केस के अभियुक्तों को “प्रताडना से बचाने के लिए” अग्रिम जमानत दिए जाने की पक्षधर है।

—पुनर्विचार याचिका दायर करने में विलम्ब।

20 मार्च को इस फैसले के आने के बाद से जब सरकार से यह कहा गया कि इसकी समीक्षा के लिए वह सर्वोच्च न्यायालय में अपील क्यों नहीं करती, उसने मौन धारण कर रखा। और जब दलित संगठनों ने भारत बंद का आवाहन किया उस दिन मजबूरन अदालत का दरवाजा खटखटाया।

—अध्यादेश जारी करने का विकल्प न अपनाना।

याद रहे सर्वोच्च न्यायालय के किसी फैसले से अगर सरकार असहमत हो तो उसके पास यह विकल्प हमेशा मौजूद रहता है कि वह अध्यादेश जारी करे, जिस पर बाद में विधायिका मुहर लगा सकती है। मगर इस विकल्प पर उसने सोचा तक नहीं।

सरकार के कामकाज पर निगाह रखने वाले बता सकते हैं कि दलितों-आदिवासियों के प्रति प्रेम का उसका दावा महज दिखावा है, यह बात बार-बार देखने में आ रही है। चाहे हैदराबाद विश्वविद्यालय के जुझारू छात्र नेता रोहित वेमुल्ला की सांस्थानिक हत्या का मामला हो, उना में दलितों पर अत्याचार का मामला हो, उत्तर प्रदेश में भीम आर्मी के प्रति उसकी प्रतिक्रिया हो, जिसके नेता को अभी भी राष्ट्रीय सुरक्षा कानून के तहत जेल में रखा गया है और हाल में भीमा कोरगांव में जुटे लाखों लोगों को उकसाने के लिए दक्षिणपंथी संगठनों द्वारा किया गया हमला हो और शरारती तत्वों के खिलाफ पुलिस में दर्ज रिपोर्ट के बावजूद अभी भी उसके मास्टरमाइंडों का कानून के शिकंजे से बाहर रहना हो, या हाल में शिक्षा संस्थानों में अध्यापक पदों पर मिलने वाले आरक्षण को एक तरह से निष्प्रभावी करने के लिए विश्वविद्यालय के स्तर पर रोस्टर बनाने के बजाय विभाग के स्तर पर रोस्टर बनाने का मसला हो, यह बात बार-बार प्रमाणित हो रही है।

अब जब पूरे देश में यह सन्देश गया है कि केन्द्र सरकार दलितों-आदिवासियों के हकों के प्रति पूर्वाग्रह रखती है और उन्हें विभिन्न तरीकों से वंचित रखना चाहती है, किस तरह उसके शासन में आते दलितों पर अत्याचारों में लगातार बढ़ोत्तरी देखी जा रही है, उस वक्त यह कहने से काम नहीं चलेगा कि किसी अन्य पार्टी ने डॉ. अम्बेडकर को इतना सम्मान नहीं दिया जैसा कि हमने दिया। <https://economictimes.indiatimes.com/news/politics-and-nation/no-other-govt-honoured-ambekar-as-we-did-pm->

लोग अब समझने लगे हैं कि अपने संकीर्ण एजेण्डे को आगे बढ़ाने के लिए सत्ताधारी जमातें भले डॉ. अम्बेडकर की मूर्तियां लगवा दें, उनके नाम पर भवनों को खोल दें, मगर तहेदिल से वह मनु की ही अनुयायी हैं, जिनकी मूर्ति उनकी पार्टी के शासनकाल में (भैरोसिंह शेखावत के मुख्यमंत्रित्व काल) जयपुर की उच्च अदालत में स्थापित की गयी और अभी पिछले दिनों उसी जयपुर में हिन्दुत्व ब्रिगेड के अग्रणी नेता इंद्रेश कुमार ने बाकायदा एक सम्मेलन को सम्बोधित किया जिसमें मनुस्मृति के रचयिता मनु का गुणगान किया गया था।

### ( अ ) सभ्य समाज

विकराल होती दलितों की यह दास्तां और शीर्ष स्तरों पर इसके पूरे एहसास के बावजूद स्थिति को सुधारने को लेकर ऊपर से लेकर नीचे तक एक विचित्र किस्म का मौन प्रतिरोध नज़र आता है। दलितों की आधिकारिक स्थिति को दस्तावेजीकृत कर संसद के पटल पर रखने जैसी कार्रवाई भी इसी उपेक्षा का शिकार होती दिखती है जबकि संविधान की धारा 338(6) के अन्तर्गत अनुसूचित जाति आयोग की पहल पर तैयार ऐसी रिपोर्टों का संसद पटल पर रखना अनिवार्य है। प्रस्तुत धारा के मुताबिक “ राष्ट्रपति ऐसी तमाम रिपोर्टों को संसद के दोनों सदनों के समक्ष पेश करेगा तथा साथ ही साथ उस ज्ञापन को भी जोड़ा जाएगा जो उजागर करेगा कि सरकार ने ऐसे मामलों में क्या कार्रवाई की या वह इस दिशा में कैसे आगे बढ़ना चाह रही है।’ कोई यह भी कह सकता है कि यह रिपोर्टें केन्द्र और राज्य के अधिकारियों के बीच दलितों की स्थिति को लेकर अपनी नाकामी छुपाने का तथा आपसी दोषारोपण का एक नया बहाना भी बनती हैं।

दलितों-आदिवासियों को न्याय से वंचित करने में राज्य-न्यायपालिका एवं नागरिक समाज किस तरह आपस में सांठगांठ करते हैं, इसे अहमदाबाद, गुजरात के सेण्टर फोर सोशल जस्टिस के वालजी भाई पटेल के अन्य अध्ययन से भी जाना जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन के लिए वालजी भाई ने गुजरात के सोलह जिलों में अप्रैल 1, 1995 के बाद प्रस्तुत अनुसूचित जाति एवं जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम 1989 के तहत सामने आए 400 मुकदमों का विस्तृत अध्ययन किया और यह देखा कि इन मुकदमों का निपटारा कैसे हुआ।

अध्ययन इस बात को उजागर करता है कि किस तरह कानून के सख्त प्रावधानों के बावजूद निम्न एवं उच्च स्तर पर पुलिस की जांच लापरवाही भरी होती है। उनका यह भी कहना था कि दलित-आदिवासियों पर अत्याचार के मामलों में आम तौर पर सरकारी वकील की काफी प्रतिकूल भूमिका होती है, जिसकी वजह से केस खारिज हो जाता है।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग द्वारा वर्ष 2004 में पेश की गयी 'रिपोर्ट ऑन प्रिवेन्शन ऑफ़ एट्रासिटीज अगेन्स्ट एससीज' ( अनुसूचित जातियों के खिलाफ अत्याचारों के निवारण की रिपोर्ट) इन बातों का विवरण पेश करती है कि किस तरह नागरिक समाज खुद जाति आधारित व्यवस्था से लाभान्वित होता है और किस तरह वह अस्तित्वमान गैरबराबरीपूर्ण सामाजिक रिश्तों को जारी रखने और समाज के वास्तविक जनतांत्रिकीकरण को बाधित करने के लिये प्रयासरत रहता है। दरअसल, वह सामाजिक मूल्यों में मौजूद गहरी दरार की ओर इशारा करती है। यह दरार इस बात में परिलक्षित होती है कि जहां एक जनतांत्रिक उदार व्यवस्था के अन्तर्गत लोग खुद सभी अधिकारों तथा विशेषाधिकारों से लाभान्वित होना चाहते हैं वहीं इन्हीं अधिकारों को अनुसूचित जाति या जनजाति को देने की बात करने की मुखालिप्त करते हैं।

अपने एक आलेख में मानवाधिकार आन्दोलन से भी सम्बद्ध जस्टिस सुरेश (काम्बेट लॉ, सितम्बर-दिसम्बर 2009) ने एक महत्वपूर्ण सुझाव दिया था कि अगर हम दलित-आदिवासियों पर अत्याचार की रोकथाम को सुनिश्चित करना चाहते हैं तो हमें संविधान की धारा 17 को संशोधित करने के बारे में गम्भीरता से सोचना चाहिए। जानने योग्य है कि संविधान निर्माण के साथ धारा 17 के अन्तर्गत अस्पृश्यता के खातमे की घोषणा की गयी, मगर संविधान प्रस्तुत करने की आपाधापी में निर्माताओं को इस बात का ध्यान नहीं रहा कि जब तक हम इससे जुड़ कर आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को सुनिश्चित करने की बात नहीं करते ताकि हर दलित हर दूसरे नागरिक के साथ समान दर्जे और गरिमा के साथ खड़ा हो सके तब तक महज अस्पृश्यता के खातमे का ऐलान काफी नहीं होगा। उनके मुताबिक धारा 17 को अधिकार को केन्द्र में रख कर संशोधित किया जा सकता है अर्थात् "अस्पृश्य" के तौर पर व्यवहार से रोक का अधिकार, जो राज्य को इस बात के लिए मजबूर करेगा कि वह इस अधिकार के

उल्लंघन को रोके और अपने कर्तव्य को पूरा करे।

मुल्क की 16 करोड़ से अधिक आबादी के बहुलांश की आज भी जारी दोगय दर्जे की स्थिति दुनिया के इस सबसे बड़े जनतंत्र की परियोजना के आगे की यात्रा के बारे में क्या कुछ कहती है। हम कह सकते हैं कि वह औपचारिक जनतंत्र के आगे विकसित नहीं हो सका है और उसे वास्तविक जनतंत्र बनाने की चुनौती बनी हुई है। अगर निचोड़ के तौर पर कहें तो हमारे सामने बड़ी चुनौती यह दिखती है कि हम नागरिक और संवैधानिक अधिकारों के विमर्श से आगे बढ़ें।

यह भी समझने की जरूरत है कि संवैधानिक सिद्धान्तों और व्यवहार और उसके बिल्कुल विपरीत बुनियाद पर आधारित नैतिक सिद्धान्तों और व्यवहार में गहरा फर्क है। हम सभी जानते हैं कि शुद्धता और प्रदूषण का प्रतिमान जो जाति व्यवस्था की बुनियाद है, उसमें गैर-बराबरी को न केवल वैधता बल्कि धार्मिक स्वीकार्यता भी मिलती है। चूंकि असमानता को सिद्धान्त और व्यवहार में स्वीकारा जाता है, लिहाजा एक कानूनी संविधान का जाति आधारित समाजों की नैतिकता पर असर ना के बराबर पड़ता है।

हमें इस बात को भी उजागर करने की जरूरत है कि किस तरह नागरिक समाज खुद जाति आधारित व्यवस्था से लाभान्वित होता है और किस तरह वह अस्तित्वमान गैर-बराबरीपूर्ण सामाजिक रिश्तों को जारी रखने और समाज के वास्तविक जनतांत्रिकीकरण को बाधित करने के लिये प्रयासरत रहता है। दरअसल, वह सामाजिक मूल्यों में मौजूद गहरी दरार की ओर इशारा करती है। यह दरार इस बात में परिलक्षित होती है कि जहां एक जनतांत्रिक उदार व्यवस्था के अन्तर्गत लोग खुद सभी अधिकारों तथा विशेषाधिकारों से लाभान्वित होना चाहते हैं वहीं जब इन्हीं अधिकारों को अनुसूचित जाति या जनजाति को देने की बात करने की मुखालिफत करते हैं।

संविधान सभा की आखिरी बैठक में बोलते हुए डॉ. अम्बेडकर ने शायद इसी स्थिति की भविष्यवाणी की थी। अपने व्याख्यान में उन्होंने कहा था कि 'हम लोग अन्तर्विरोधों की एक नयी दुनिया में प्रवेश कर रहे

हैं। राजनीति में हम एक व्यक्ति-एक वोट के सिद्धान्त को स्वीकार करेंगे। लेकिन हमारे सामाजिक-राजनीतिक जीवन में, हमारे मौजूदा सामाजिक-आर्थिक ढांचे के चलते हम लोग एक लोग-एक मूल्य के सिद्धान्त को हमेशा खारिज करेंगे। कितने दिनों तक हम अर्न्तिर्वरोधों का यह जीवन जी सकते हैं? कितने दिनों तक हम सामाजिक और आर्थिक जीवन में बराबरी से इन्कार करते रहेंगे।”

भारत के हर इन्साफ पसन्द व्यक्ति के सामने यह सवाल आज भी जिन्दा खड़ा है।

...हिंदू समाज सुधारकों के बारे में आप की जो भी राय हो, व्यक्तिगत तौर पर मुझे ऐसे लोगों के प्रति नफरत है। मेरे मन में उनके लिए कोई आदर नहीं है। उनके साथ मेरे काफी कड़वे अनुभव रहे हैं। ऐसे लोग जो अपनी जाति में रहते हैं, अपनी जाति में मरते हैं, अपनी जाति में शादी करते हैं, वे लोगों को झूठे नारों से बेवकूफ बनाते हैं, कहते हैं कि “हम जाति को तोड़ेंगे!” यह बात हास्यास्पद है। और अगर अछूतों ने उन पर विश्वास नहीं किया तो वह उनसे नाराज होते हैं ! क्या यह बात आश्चर्यचकित करने वाली नहीं है ?

इन हिन्दू समाज सुधारकों के द्वारा लगाए जाने वाले नारों को जब मैं सुनता हूँ, मुझे याद आते हैं अमेरिकी नीग्रो लोगों के लिए अमेरिकी श्वेत लोगों द्वारा किए गए प्रयास। सालों पहले, अमेरिका के नीग्रो लोगों की स्थिति भारत के अछूतों जैसी ही थी। फरक महज इतना ही था कि नीग्रो की गुलामी के लिए कानून की मंजूरी थी, जबकि आप की गुलामी के लिए धर्म की मंजूरी थी। इसलिए, कुछ सुधारकों ने नीग्रो की गुलामी मिटाने की कोशिशें कीं। मगर क्या उन श्वेत सुधारकों की तुलना उनके समकक्षों से की जा सकती है ? श्वेत सुधारकों ने नीग्रो की मुक्ति के लिए अपने ही परिवारजनों और आत्मीयों से लड़ाई लड़ी। नीग्रो लोगों की गुलामी का समर्थन करने वाले हजारों श्वेतों को उन्होंने मार डाला और इस मकसद के लिए अपनी भी जान कुर्बान की।

जब इतिहास के इन पन्नों से हम गुजरते हैं तो भारत के समाज सुधारक बेहद कमजोर मालूम पड़ते हैं। भारत में अछूतों के इन रहनुमाओं को—जिन्हें “सुधारक” कहा जाता है—उनसे निम्नलिखित प्रश्न पूछे जाने चाहिए : क्या आप अपने हिंदू भाइयों से गृहयुद्ध करने के लिए तैयार हैं, जैसे कि अमेरिका के श्वेतों ने किया जिन्होंने कलर्ड लोगों की हिमायत के लिए अपने ही श्वेत भाइयों से लोहा लिया ? और अगर नहीं तो फिर सुधार की यह लंबी-लंबी बातें क्यों ?

—बॉम्बे प्रेसिडेंसी महार कॉन्फ्रेंस,

31 मई 1936 में डॉ. अम्बेडकर के भाषण का अंश  
जिसे वसंत मून ने मराठी से अंग्रेजी में अनूदित किया।

---

## *isd* इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

प्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017